समाजशास्त्र : एक परिचय

(Sociology: An Introduction)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
तीनपानी बाई पास रोड़, ट्रान्सपोर्ट नगर के पास, हल्द्वानी– 263139
नैनीताल (उत्तराखण्ड)
फोन न0– 05946– 261122, 061123
टॉल फ्री न0– 18001804025
www.uou.ac.in **e-mail- info@uou.ac.in**

अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष
कुलपति
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

संयोजक
निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा

अध्ययन मण्डल के सदस्यों के नाम

1. **प्रो.जे.पी. पचौरी** (सदस्य), कुलपति, हिमालयन विश्वविद्यालय, जीवनवाला, देहरादून
2. **प्रो.सी.सी.एस. ठाकुर,** (सदस्य), प्रो.(से.नि.), रानी दुर्गावती, विश्वविद्यालय, जबलपुर, मध्यप्रदेश
3. **प्रो. रविन्द्र कुमार** (सदस्य), इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली
4. **प्रो. रेनू प्रकाश** (सदस्य),समन्वयक, समाजशास्त्र विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
5. **डॉ. भावना डोभाल** (मनोनीत सदस्य), सहायक प्राध्यापक (एसी),उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
6. **डॉ. गोपाल सिंह** गौनिया (मनोनीत सदस्य), सहायक प्राध्यापक (एसी),उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक

प्रो. रेनू प्रकाश, समन्वयक, समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	इकाई संख्या
1. डॉ. दीपक पालीवाल, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	5,6
2. डॉ. नीरजा सिंह, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	4,7,13
3. डॉ.विद्या रॉय, राजकीय महाविद्यालय रामनगर, उत्तराखण्ड	8
4. डॉ. संजय कुमार, दिगम्बर पी.जी. कॉलेज, डिबाई बुलंदशहर	9,10,14
5. डॉ. संजीव महाजन, एन.एस. पी.जी. कॉलेज	1,2

सम्पादन

प्रो. रेनू प्रकाश
समन्वयक
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

डॉ0 भावना डोभाल
सहायक प्राध्यापक (एसी), समाजशास्त्र
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

आई.एस.बी.एन. :
कापीराइट : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
प्रकाशन वर्ष : 2023

प्रकाशन – उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल– 263139

नोट– सर्वाधिक सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी BASO (N) 101

प्रथम सेमेस्टर(First Semester) **Core Paper**

BASO (N)-101 **4 Credits**

समाजशास्त्र : एक परिचय

(Sociology: An Introduction)

इकाई संख्या	अनुक्रमणिका	पृष्ठ संख्या
समाजशास्त्र : एक परिचय (Sociology: An Introduction)		
इकाई-1	समाजशास्त्र का अर्थ परिभाषा एवं प्रकृति (Meaning, Definition & Nature of Sociology)	1-15
इकाई-2	क्षेत्र एवं विषय-वस्तु (Scope & Subject Matter)	16-24
इकाई-3	समाजशास्त्र एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ संबंध: मानवशास्त्र,मनोविज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र (Sociology and its relationship with other social sciences: anthropology, psychology, history, economics, political science)	25-39
खण्ड-2 आधारभूत समाजशास्त्रीय अवधारणाएं (Basic Sociological Concepts)		
इकाई-4	समाज : अर्थ, विशेषताऐं, समाज एवं एक समाज, मानव एवं पशु समाज (Society: meaning, Characteristics, Society and a Society, Human and Animal Society)	40-50
इकाई-5	समुदाय, अर्थ एवं विशेषताएं (Community: meaning & Characteristics)	51-60
इकाई-6	प्रस्थिति की अवधारणा: अर्थ, विशेषताऐं, आधार एवं प्रकार (Concept of	61-73

	Status: Meaning, Characteristics, Basis and Types)	
इकाई-7	भूमिका: अर्थ, विशेषताएं, प्रस्थिति एवं भूमिका में संबंध (Role: Meaning, Characteristics, Relationship between Status and Role)	74-81
इकाई-8	संस्कृति : अर्थ, विशेषताएं, प्रकार एवं महत्व (Culture: Meaning, Characteristics, Types & Importance)	82-94
इकाई-9	मानदण्ड: अर्थ, विशेषताएं एवं प्रकार (Norms: Meaning, Characteristics & Types)	95-107
इकाई-10	मूल्य: अर्थ, विशेषताऐं एवं प्रकार (Values, Meaning] Characteristics & Types)	108-115
खण्ड-3 सामाजिक संरचना एवं सामाजिक स्तरीकरण (Social Structure & Social Stratification)		
इकाई-11	सामाजिक संरचना: अर्थ, विशेषताऐं एवं विविध स्वरूप (Social structure: Meaning, Characteristics and Various Forms)	116-125
इकाई-12	सामाजिक संरचना में प्रमुख समाजशास्त्रीयों का योगदान (Contribution of main sociologist in the field of social structure)	126-135
इकाई-13	सामाजिक स्तरीकरण- अर्थ, विशेषताएं एवं स्वरूप (Social Stratification– Meaning, Characteristics and forms)	136-145
इकाई-14	सामाजिक स्तरीकरण- आधार एवं सिद्धांत (Social Stratification– Basis and Theories)	146-157

इकाई 01- समाजशास्त्र का अर्थ,परिभाषा एवं प्रकृति
Meaning, Definition & Nature of Sociology

इकाई की रूपरेखा

1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 समाजशास्त्र का अर्थ व परिभाषा

1.2.1 समाजशास्त्र समाज का अध्ययन

1.2.2 समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का अध्ययन

1.2.3 समाजशास्त्र सामाजिक जीवन, घटनाओं, व्यवहार एवं कार्यों का अध्ययन है

1.3 समाजशास्त्र की प्रकृति

1.3.1 समाजशास्त्र विज्ञान के रूप में

1.4 सारांश

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

1.7 संदर्भ ग्रंथ

1.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.9 लघु उत्तरीय प्रश्न

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है यह एक ऐसा विषय है, जिसमें मानव समाज के विभिन्न स्वरूप, संरचना व प्रक्रियाओ का क्रमबद्ध तरीके से अध्ययन किया जाता है। अगस्त कॉम्टे प्रथम विचारक हैं, जिन्होंने एक व्यवस्थित विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र विषय का निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किया। उनको मानवीय तथा सामाजिक एकता पर बल देना वाला प्रथम समाजशास्त्री माना जाता है। उनका विचार था कि कोई भी ऐसा नहीं है जिसने कि समाज के विभिन्न पहलुओं का समग्र रूप में अध्ययन किया हो। इस कमी को दूर करने के लिए उन्होंने इस नवीन विषय का निर्माण किया। इसीलिए कॉम्टे को समाजशास्त्र विषय का जनक या जन्मदाता माना जाता है। समाजशास्त्र विषय का जनक मात्र इसीलिए नहीं कि उन्होंने इस नवीन विषय को प्रथमतः नाम प्रदान किया अपितु इसीलिए भी कि उन्होंने इस विज्ञान को 'विज्ञानों के संस्तरण' में तार्किव व उचित स्थान दिलवाने में तथा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग की संभावना को जोरदार शब्दो में व्यक्त करने में भी सफलता प्राप्त की। इस इकाई का उदेश्य समाजशास्त्र के अर्थ, परिभाषा व प्रकृति को स्पष्ट करना है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समाजशास्त्र का अर्थ , समाजशास्त्र की प्रकृति व समाजशास्त्र व विज्ञान के बीच संबंध को विस्तृत रूप से जान सकेंगे।

1.2 समाजशास्त्र का अर्थ व परिभाषा

समाजशास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति दो शब्दों से मिलकर बनी है जिसमें से पहला शब्द 'सोसियस' (Socius) लैटिन भाषा से ओर दूसरा शब्द 'लोगस' (logus) ग्रीक भाषा से लिया गया है। इस प्रकार समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ समाज का शास्त्र या समाज का विज्ञान है। डॉन मार्टिनल ने बताया है कि यदि मानव प्रकृति से दार्शनिक है तो स्वभावतः वह समाजशास्त्री भी है, क्योंकि सामाजिक जीवन उसका स्वाभाविक उद्देश्य है। समाजशास्त्र को एक नवीन विज्ञान के रूप में स्थापित करने का श्रेय फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान आगस्त काँम्टे को है, इनको समाजशास्त्र का जन्मदाता भी कहा जाता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग 1838 ई० में किया था। यद्यपि पहले उन्होंने इसे 'सोशल फिजिक्स' (Social Physics) कहा परन्तु बाद में इसे समाजशास्त्र (Sociology) का नाम दिया। अतएव आपको समाजशास्त्र के जनक के रूप में भी जाना जाता है। कालांतर में दुर्खीम, सपेंसर, मैक्स वेबर एवं अन्य विद्वानों ने समाजशास्त्र को एक अकादमिक विज्ञान के रूप में विकसित करने हेतु अपने महत्वपूर्ण योगदान दिए। समाजशास्त्र की उत्पत्ति के मूल स्रोतों पर प्रकाश डालते हुए गिंसबर्गने लिखा है कि यह स्पष्ट रूप से माना जा सकता है कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति राजनीति दर्शन , इतिहास, विकास के जैविकीय सिद्धांत एवं उन सभी सामाजिक और

राजनीतिक सुधार आंदोलनों पर आधारित है जिन्होंने सामाजिक दिशाओं का सर्वेक्षण करना आवश्यक समझा। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन व मानवीय संबंधों की जटिलता के अध्ययन का विश्लेषण दोनों को यथार्थता की कसौटी पर कसने के लिए समाजशास्त्र का अविर्भाव एक समाजविज्ञान के रूप में 19वीं शताब्दी में हुआ।

विभिन्न विद्वानों ने समाजशास्त्र को एक समाज-वैज्ञानिक विषय व सामाजिक विषय के रूप में अपने- अपने तरीकों से परिभाषित करने के प्रयास किए। विषयांतर्गत सार को समझने हेतु कुछ परिभाषाएं निम्नवत हैं:-

वार्ड के अनुसार - " समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है"।

गिडिंग्स के अनुसार – " समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है"।

मैक्स बेवर के अनुसार – "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो कि सामाजिक क्रिया के व्याख्यात्मक बोध को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, जिससे उसकी प्रक्रिया व प्रभावों की बुद्धिसंगत व्याख्या की जा सके"।

गिंसबर्ग के अनुसार – "समाजशास्त्र मानवीय अंतर्कियाओं और अंर्तसंबंधों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है"।

दुर्खीम के अनुसार –''समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्व के विज्ञान है।''

गिलिन और गिलिन के अनुसार– ''व्यक्तियों के एक दूसरे के सम्पर्क में आने के फलस्वरुप उत्पन्न होने वाली ''अन्तक्रियाओं'' के अध्ययन को ही समाजशास्त्र कहा जा सकता है।''

समाजशास्त्र की कोई सर्वमान्य परिभाषा देना एक कठिन कार्य है। विभिन्न विद्वानों ने इसकी परिभाषा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से दी है। समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं को हम निम्नलिखित प्रमुख श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं-

1.2.1 समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है

अधिकांश विद्वान जैसे ओडम, वार्ड, जिसबर्ट, गिडिंग्स आदि समाजशास्त्र को समाज के अध्ययन या समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं। यही दृष्टिकोण अधिकांश प्रारंभिक समाजशास्त्रियों का भी रहा है जिन्होंने समाज का समग्र के रूप में अर्थात् इसे एक संपूर्ण इकाई मानकर अध्ययन करने पर बल दिया है। ओडम के अनुसार "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।'' वार्ड के अनुसार, "समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।''

जिसबर्ट के अनुसार, "समाजशास्त्र सामान्यतः समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाता है।'' इसी भांति गिडिंस के अनुसार, "समाजशास्त्र समग्र के रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन तथा व्याख्या है।''

समाज के अध्ययन के रूप में दी गई समाजशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि केवल 'समाजशास्त्र' का शाब्दिक अर्थ ही 'समाज का अध्ययन' या 'समाज का विज्ञान' नहीं है अपितु ओडम, वार्ड, जिसबर्ट तथा गिडिंस आदि विद्वानों ने इसकी परिभाषा देते समय भी समाज को इस विषय का मुख्य अध्ययन बिंदु बताया है। समाज का अर्थ सामाजिक संबंधों की एक व्यवस्था, जाल अथवा ताने -बाने से है इससे किसी समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक अंर्तसंबंधों की जटिलता का बोध होता है। अन्य शब्दों में जब सामाजिक संबंधों की एक व्यवस्था पनपती है तभी हम उसे समाज कहते हैं। विज्ञान क्रमबद्ध ज्ञान या किसी तथ्य अथवा घटना से संबंधित वस्तुनिष्ठ रूप से जानकारी प्राप्त करने का एक तरीका है। इसमें अवलोकन, परीक्षा, प्रयोग, वर्गीकरण तथा विश्लेषण द्वारा वास्तविकता को समझने का प्रयास किया जाता है। यह प्रघटना के पीछे छिपे तथ्य अथवा वास्वविकता को प्राप्त करने का एक मार्ग है। इस प्रकार, जब हम समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान कहते हैं तो हमारा तात्पर्य ऐसे विषय से है जो समाज तथा इसके विभिन्न पहलुओं का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।

1.2.2 समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का अध्ययन है

कुछ विद्वानों यथा मैकाइवर एवं पेज, क्यूबर, रोज, सिमेल, ग्रीन आदि ने समाजशास्त्र को सामाजिक संबंधों के क्रमबद्ध अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। सामाजिक संबंधों से हमारा अभिप्राय दो अथवा दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों के संबंधों से है जिन्हें एक दूसरे का आभास है तथा जो एक दूसरे के लिए कुछ न कुछ कार्य कर रहे है। यह जरूरी नहीं है कि संबंध मधुर तथा सहयोगात्मक ही हों, ये संघर्षात्मक या तनावपूर्ण भी हो सकते हैं। समाजशास्त्री इन दोनों तरह से संबंधों का अध्ययन करते हैं। सामाजिक संबंध उसी परिस्थिति में पाए जाते हैं। जिसमें दो या अधिक व्यक्ति अथवा दो या अधिक समूह परस्पर अंर्तक्रिया में भाग लें। सामाजिक संबंध तीन प्रकार के हो सकते हैं-प्रथम, व्यक्ति तथा व्यक्ति के बीच, द्वितीय व्यक्ति तथा समूह के बीच तथा तृतीय एक समूह और दूसरे समूह के बीच। पति, पत्नी, भाई, बहिन, पिता, पुत्र के संबंध पहली श्रेणी के उदाहरण हैं। छात्रों का अध्यापक के साथ संबंध दूसरी श्रेणी का उदाहरण है। एक टीम का दूसरी टीम अथवा एक राजनीति दल का दूसरे राजनीति दल से संबंध तीसरी श्रेणी का उदाहरण है। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों के विषय में है। संबंधों के इस जाल को हम 'समाज' कहते है। क्यूबर के अनुसार "समाजशास्त्र को मानव संबंधों के वैज्ञानिक ज्ञान के ढांचे के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। रोज के अनुसार, समाजशास्त्र मानव संबंधों का विज्ञान है । सिमेल के अनुसार, 'समाजशास्त्र मानवीय अंर्तसंबंधों के स्वरूपों का विज्ञान है'। इसी भांति ग्रीन के अनुसार, इस प्रकार समाजशास्त्र मनुष्य का उसके समस्त सामाजिक संबंधों के रूप में समन्वय करने वाला और सामान्य अनुमान निकालने वाला विज्ञान है।

सामाजिक संबंधों के अध्ययन के रूप में समाजशास्त्र को परिभाषित करने वाली उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट पता चल जाता है कि समाजशास्त्र की मुख्य विषयवस्तु व्यक्तियों में पाये जाने वाले सामाजिक संबंध है।

1.2.3 समाजशास्त्र सामाजिक जीवन, घटनाओं, व्यवहार एवं कार्यों का अध्ययन है

कुछ विद्वानों यथा ऑर्गबर्न एवं निमकॉफ, बेनेट एवं ट्यूमिन, किंबल यंग, सोरोकिन आदि ने समाजशास्त्र को सामाजिक जीवन, व्यक्तियों के व्यवहार एवं उनके कार्यों तथा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। ऑर्गबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार "समाजशास्त्र सामाजिक जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन है।'' बेनेट एवं ट्यूमिन के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के ढांचे और कार्यों का विज्ञान है।'' यंग के अनुसार समाजशास्त्र समूहों में मनुष्यों के व्यवहार का अध्ययन करता है। इसी भांति सोरोकिन के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक, सांस्कृतिक घटनाओं के सामान्य स्वरूपों, प्रारूपों और विभिन्न प्रकार के अंतर्संबंधों का सामान्य विज्ञान है।

उपर्युक्त विवेचन से हमें पता चलता है कि समाज का विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र समाज के अन्य विज्ञानों यथा राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र आदि से भिन्न है। इसमें हम सामाजिक जीवन का ही अध्ययन करते हैं। इसके साथ ही साथ सामाजिक व्यवहार एवं सामाजिक कार्यों का अध्ययन भी इस विषय को अन्य सामाजिक विज्ञानों से पृथक करता है। सामाजिक व्यवहार का अर्थ ऐसा व्यवहार है जो अन्य व्यक्तियों के व्यवहार या उनकी प्रत्याशित अनुक्रिया को ध्यान में रखकर किया जाता है।

1.2.4 समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का अध्ययन है

व्यक्ति समाज में अकेला नहीं रहता अपितु अन्य व्यक्तियों के साथ रहता है। वास्तव में, व्यक्ति का जीवन विभिन्न सामाजिक समूहों का सदस्य होने के कारण ही संगठित जीवन है। हेरी एम जॉनसन के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, उनके आंतरिक स्वरूपों या संगठन के स्वरूपों, उन प्रक्रियाओं जो उसे संगठन में बनाए रखती हैं या परिवर्तित करती हैं और समूहों के बीच पाए जाने वाले संबंधों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।'' जॉनसन की परिभाषा से हमें पता चलता है कि समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, इनमें पाए जाने वाले संगठनों तथा इनसे संबंधित प्रक्रियाओं का अध्ययन है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी लक्ष्य या उद्देश्य को पाने के लिए एक दूसरे को प्रभावित करते हैं या अंतर्क्रिया करते हैं और इसके परिणामस्वरूप उनके मध्य सामाजिक संबंध स्थापित होते हैं। तभी उन व्यक्तियों के संग्रह को समूह कहा जा सकता है। इस प्रकार समूह के तीन तत्व हो सकते है- प्रथम, दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संग्रह, द्वितीय, उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंधों का होना तथा तृतीय, उनकी क्रियाओं का आधार सामान्य हित या उद्देश्य का होना।

सभी समूह सामाजिक संबंधों के संकाय होते हैं। इस अर्थ में किसी भी समूह में उनके सदस्यों के बीच कुछ लक्ष्यों की प्राप्तियों के लिए आंशिक सहकार निहित करता है। समूह के सहकारिता पक्ष का यह अर्थ नहीं है कि इसके

सदस्यों के बीच वैमनस्य हो ही नहीं सकता। एक समूह में प्रतिद्वंदिता और स्थायी घृणा का बाजार गर्म हो सकता है। जैसे कि कुछ परिवार होते हैं, लेकिन वह फिर भी समूह बना रहता है। उसके सदस्य भी यदा कदा अपनी अंतर्क्रियाओं में कतिपय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सहकार करते रहते हैं। समाजशास्त्र व्यक्ति - व्यक्ति के परस्पर संबंधों की अपेक्षा समूह-समूह के परस्पर संबंधों तथा एक जाति से दूसरी जातियों से संबंध तथा एक वर्ग से दूसरे वर्गों से संबंध को अधिक महत्व देता है।

बोध प्रश्न

i) समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है – सत्य /असत्य

ii) किसके अनुसार, 'समाजशास्त्र मानवीय अंतर्संबंधों के स्वरूपों का विज्ञान है'

i) सिमेल ii) वार्ड

iii) ग्रीन iv) काँम्टे

iii) समाजशास्त्र का जनक किसे कहा जाता है?

i) सिमेल ii) वार्ड

iii) ग्रीन iv) काँम्टे

iv) किसके अनुसार, " समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है"।

i) गिडिंग्स ii) मैक्स बेवर

iii) गिंसबर्ग iv) काँम्टे

v) किसके अनुसार, "समाजशास्त्र मानवीय अंतर्कियाओं और अंर्तसंबंधों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है"।

i) गिडिंग्स ii) मैक्स बेवर

iii) गिंसबर्ग iv) काँम्टे

vi) किसके अनुसार, 'समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है'

i) सिमेल ii) वार्ड

iii) ग्रीन iv) काँम्टे

1.3 समाजशास्त्र की प्रकृति

क्या समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जा सकता है या नहीं? यह प्रश्न समाजशास्त्र की स्थिति या प्रकृति से संबंधित प्रश्न है, अर्थात् इसका संबंध इस तथ्य का पता लगाना है कि क्या समाजशास्त्र विज्ञान है या नहीं? तो इसमें वैज्ञानिक पद्धति की कौन सी विशेषताएं पाई जाती हैं और यदि यह विज्ञान नहीं है तो इसमें कौन सी ऐसी आपत्तियां हैं जिनके आधार पर इसे विज्ञान नहीं कहा जा सकता है। इस प्रश्न के बारे में विद्वानों में मतैक्य का अभाव पाया जाता है। प्रमुख रूप से हमारे सामने दो दृष्टिकोण रखे गए हैं- समाजशास्त्र एक विज्ञान है तथा समाजशास्त्र विज्ञान नहीं है।

प्रथम दृष्टिकोण में इस बात पर बल दिया जाता है कि समाजशास्त्र अन्य विज्ञानों की तरह ही एक विज्ञान है तथा समाज, सामाजिक प्रघटनाओं एवं सामाजिक पहलुओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। दूसरे दृष्टिकोण के समर्थक इस बात पर बल देते हैं कि सामाजिक घटनाओं की प्रकृति एवं सामाजिक व्यवहार इतना जटिल है कि इनका वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं है। अतः समाजशास्त्र को एक विज्ञान नहीं कहा जा सकता । इन दोनों दृष्टिकोणों के समर्थकों ने अपने -अपने दृष्टिकोणों की पुष्टि करने के लिए अनेक तर्क दिए हैं जिनका संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है-

1.3.1 समाजशास्त्र विज्ञान के रूप में

समाजशास्त्र में विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताएं पाई जाती हैं-

1. समाजशास्त्र में सामाजिक संबंधों सामाजिक अंतर्क्रियाओं, सामाजिक व्यवहार एवं समाज का अध्ययन कल्पना के आधार पर नहीं किया जाता अपितु इनको वास्तविक रूप से वैज्ञानिक पद्धति द्वारा समझने का प्रयास किया जाता है। वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा ही उपकल्पनाओं का परीक्षण एवं सामाजिक नियमों या सिद्धांतों का निर्माण किया जाता है।

2. समाजशास्त्रीय ज्ञान प्रमाण पर आधारित है क्योंकि समाजशास्त्री किसी बात को बलपूर्वक मानने के लिए नहीं कहते अपितु तर्क एवं प्रमाणों के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं।

3. समाजशास्त्र तथ्यों का यथार्थ रूप से वर्णन ही नहीं करता अपितु इनकी व्याख्या भी करता है। इसमें प्राप्त तथ्यों का बढ़ा-चढ़ाकर या आदर्श एवं कल्पना से मिश्रित करने प्रस्तुत नहीं किया जाता अपितु वास्तविक घटनाओं (जिस रूप में वह विद्यमान है) का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

4. समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति द्वारा एकत्र आंकड़ों को व्यवस्थित करने के लिए उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण किया जाता है तथा तर्क के आधार पर निर्वचन करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं। क्योंकि तथ्यों का वर्गीरकण, उनके क्रम का ज्ञान व सापेक्षित महत्व का पता लगाना है कि विज्ञान है और इन सब बातों को हम समाजशास्त्रीय विश्लेषणों में स्पष्ट देख सकते हैं, अतः समाजशास्त्र एक विज्ञान है।

5. समाजशास्त्र अपनी विषयवस्तु में कार्य-कारण संबंधों की खोज करता है, अर्थात इसका उद्देश्य विभिन्न सामाजिक घटनाओं के बारे में आंकड़े एकत्र करना ही नहीं है अपितु उनके कार्य-कारण संबंधों एवं परिणामों का पता लगाना भी है। प्राकृतिक विज्ञानों में कार्य-कारण संबंधों का निरीक्षण प्रयोगशाला में किया जाता है परंतु समाजशास्त्र में यह अप्रत्यक्ष प्रयोगात्मक पद्धति अर्थात् तुलनात्मक पद्धति द्वारा ही संभव है।

6. समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति द्वारा अध्ययन किए जाते हैं तथा सामाजिक वास्तविकता को समझने का प्रयास किया जाता है इसलिए इसमें सामान्यीकरण करने एवं सिद्धांतों का निर्माण करने के प्रयास भी किए गए हैं, यद्यपि एक आधुनिक विषय होने के कारण इनमें अधिक सफलता नहीं मिल पाई है।

रोबर्ट बीरस्टीड (Robert Bierstedt) का कहना है समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति वैज्ञानिक है। इसे उन्होंने निम्नांकित विशेषताओं द्वारा स्पष्ट किया है-

1. **समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है, प्राकृतिक विज्ञान नहीं** - समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है क्योंकि इसकी विषयवस्तु मौलिक रूप से सामाजिक है अर्थात् इनमें समाज, सामाजिक घटनाओं सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक संबंधों तथा अन्य सामाजिक पहलुओं एवं तथ्यों का अध्ययन किया जाता है। प्रत्यक्ष रूप से इसका प्राकृतिक या भौतिक वस्तुओं से कोई संबंध नहीं है अतः यह प्राकृतिक विज्ञान नहीं है। समाजशास्त्र स्वयं संपूर्ण सामाजिक विज्ञान नहीं है अपितु सामाजिक विज्ञानों में से एक विज्ञान है।

2. **समाजशास्त्र एक वास्तविक (निश्चयात्मक) विज्ञान है, आदर्शात्मक विज्ञान नहीं** - समाजशास्त्र वास्तविक घटनाओं का अध्ययन, जिस रूप में वे विद्यमान हैं, करता है तथा विश्लेषण में किसी आदर्श को प्रस्तुत नहीं करता या अध्ययन के समय किसी आदर्शात्मक दृष्टिकोण को नहीं अपनाया जाता। अतः यह एक वास्तविक विज्ञान है, आदर्शात्मक नहीं। अवलोकन प्रविधि द्वारा आंकड़ों के संकलन तथा कार्य-कारण संबंधों के अध्ययन पर

बल देने के कारण भी यह एक वास्तविक विज्ञान है। समाजशास्त्र इस बात का अध्ययन नहीं करता है कि वास्तविक स्थिति क्या है।

3. **समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है, व्यावहारिक विज्ञान नहीं** - समाजशास्त्र विशुद्ध विज्ञान है क्योंकि इसका सम्मुख उद्देश्य मानव समाज से संबंधित सामाजिक घटनाओं का अध्ययन, विश्लेषण एवं निरूपण कर ज्ञान का संग्रह करना है। विशुद्ध विज्ञान क्योंकि सैद्धांतिक होता है इसीलिए इसके द्वारा संचित ज्ञान अनिवार्य रूप से व्यावहारिक रूप में नहीं लाया जा सकता।

रोबर्ट बीरस्टीड ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि समाजशास्त्र व्यर्थ या अव्यावहारिक विज्ञान है, परंतु समाजशास्त्र की इसमें कोई रूचि नहीं कि प्राप्त ज्ञान का प्रयोग व्यावहारिक क्षेत्रों पर कैसे लागू किया जाता है।

समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति के बारे में रोबर्ट बीरस्टीड द्वारा बताई गई विशेषताओं से स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र एक ऐसा सामाजिक विज्ञान है जो निरपेक्ष वास्तविक, विशुद्ध, अमूर्त और सामान्य होने के साथ-साथ तार्किक तथा अनुभवाश्रित भी है। यह प्राकृतिक विज्ञान, विशेष विज्ञान, व्यावहारिक विज्ञान, आदर्शात्मक विज्ञान तथा मूर्त विज्ञान नहीं है।

1.4 सारांश

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है । यह एक विषय है जिसमें मानव समाज के विभन्न स्वरूपों, उसकी विविध संरचनाओं, प्रक्रियाओं इत्यादि का वस्तुनिष्ट एवं क्रमबद्ध रूप में अध्ययन किया जाता है, ये अन्य विषयों की तरह एक स्वतंत्र विषय है , इस प्रकार जब हम समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान कहते हैं तो हमारा तात्पर्य ऐसे विषय से है जो समाज तथा इसके विभिन्न पहलुओं का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।

1.5 पारिभाषिक शब्दावली

समाजशास्त्र – समाजशास्त्र वह विषय है जो समाज का क्रमबद्ध अध्ययन करता है

सामाजिक अंतर्क्रिया – दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच होने वाली अर्थपूर्ण क्रिया को सामाजिक अंतर्क्रिया कहते है

परिप्रेक्ष्य- परिप्रेक्ष्य का अर्थ एक विशिष्ट नजरिया है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अपने अध्ययन को समन्वित व सुव्यवस्थित करता है

1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न

i) सत्य

ii) सिमेल

iii) कॉम्ट

iv) गिडिंग्स

v) गिंसबर्ग

vi) वार्ड

1.7 संदर्भ ग्रंथ

Arnold M.Rose, Sociology, Boston:Houghton Mifflin, 1962

Bierstedt, Robert, The Social Order, New York:McGraw Hill, 1957

Bottomore, T.B., Sociology:A Guide to Problems and Literature, London:Allen and Unwin, 1969

Johnson, Harry M..,Sociology:A Systematic Introduction, London:Routledge & Kegan Paul, 1961

Gillin And Gillin : Cultural Sociology

1.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Lumley, F.E., Principles of Sociology, New York: MacGraw-Hill Book Company, 1935.

Johnson, Harry M.,Sociology : A Systematic Introduction, London : Routledge & Kegan Paul,1961.

Gisbert,P.,Fundamentals of Sociology, New Delhi:Prentice-Hall of India,1965.

1.9 लघु उत्तरीय प्रश्न

1- समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ स्पष्ट कीजिए।

2- क्या समाजशास्त्र एक विज्ञान है स्पष्ट कीजिए ?

3- वेबर की समाजशास्त्र की परिभाषा को दीजिए।

3- गिंसबर्ग द्वारा दी गई समाजशास्त्र की परिभाषा को स्पष्ट कीजिए।

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.समाजशास्त्र क्या है ? कुछ प्रमुख परिभाषाओं के संदर्भ में विवेचना कीजिए?

2. समाजशास्त्र की प्रकृति की विवेचना कीजिए ?

3- समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए उसकी प्रकृति की विवेचना कीजिए।

इकाई 02- समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र एवं विषय-वस्तु
Scope & Subject Matter of Sociology

इकाई की रूपरेखा

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र

2.2.1 स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टवादी संप्रदाय

2.2.2 समन्वयात्मक संप्रदाय

2.3 समाजशास्त्र की विषय वस्तु

2.4 सारांश

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

2.7 संदर्भ ग्रंथ

2.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.9 निबंधात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

समाज विज्ञानों में समाजशास्त्र एक नया विषय है। अन्य समाज विज्ञानों जैसे राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि तो पुराने हैं, लेकिन समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास की कहानी लगभग 170 वर्ष पुरानी है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान व्यक्तियों के सामाजिक जीवन को तथा विभिन्न घटनाओं को अपने - अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र आर्थिक दृष्टिकोण से, राजनीतिशास्त्र राजनीतिक दृष्टिकोण से, मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से तथा समाजशास्त्र सामाजिक दृष्टिकोण से घटनाओं का अध्ययन करते हैं। विभिन्न दृष्टिकोण होने के बावजूद किसी भी सामाजिक विज्ञान का विषय क्षेत्र निर्धारित करना एक कठिन कार्य है। प्रस्तुत इकाई में समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र व विषय वस्तु पर विस्तृत चर्चा की गई है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य-

i) समाजशात्र की विषय वस्तु व विषय क्षेत्र की पूर्ण जानकारी प्रदान करना है, वस्तुत: विषय वस्तु व विषय क्षेत्र को एक की समझ लिया जाता है लेकिन जबकि दोनों में प्रर्याप्त अंतर है इस इकाई के अध्ययन के बाद आप दोनों में अंतर स्पष्ट कर सकेंगे।

2.2 समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र

प्रायः कुछ लोग विषय क्षेत्र (Scope) तथा विषय वस्तु (Subject-Matter) को एक ही समझ लेते हैं जबकि दोनों में पर्याप्त अंतर है। विषय क्षेत्र का तात्पर्य वे संभावित सीमाएं हैं जहां तक किसी विषय का अध्ययन संभव होता है, जबकि विषय वस्तु से निश्चित सीमाएं हैं जिनके अंतर्गत अध्ययन किया जा सकता है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान व्यक्तियों के सामाजिक जीवन को तथा विभिन्न घटनाओं को अपने - अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र आर्थिक दृष्टिकोण से, राजनीतिशास्त्र राजनीतिक दृष्टिकोण से, मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से तथा समाजशास्त्र सामाजिक दृष्टिकोण से घटनाओं का अध्ययन करते हैं। विभिन्न दृष्टिकोण होने के बावजूद किसी भी सामाजिक विज्ञान का विषय क्षेत्र निर्धारित करना एक कठिन कार्य है। एक आधुनिक विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र में यह कठिनाई अन्य विज्ञानों की अपेक्षा कहीं अधिक है। कालबर्टन (Calberton) के अनुसार समाजशास्त्र क्योंकि लचीला विज्ञान है अतः यह निश्चित करना पूर्ण रूप से कठिन कार्य है कि इसकी सीमा कहां से प्रारंभ होती है, कहां समाजशास्त्र मनोविज्ञान तथा कहां मनोविज्ञान समाजशास्त्र बन जाता है अथवा जैविक सिद्धान्त

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त बन जाता है। समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र के बारे में प्रमुख विद्वान एकमत नहीं हैं। इसके बारे में हमारे सामने निम्नांकित दो प्रमुख परिप्रेक्ष्य, दृष्टिकोण (या संप्रदाय) प्रस्तुत किए गए हैं-

2.2.1 स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टवादी संप्रदाय

इस संप्रदाय के प्रमुख प्रणेता तथा समर्थक जॉर्ज सिमेल, स्माल, वीरकांत, मैक्स वेबर, वॉन वीज आदि विद्वान हैं। इन विद्वानों के दृष्टिकोण में समाजशास्त्र स्वतंत्र, विशिष्ट तथा शुद्ध विज्ञान है। इसका प्रमुख लक्ष्य मानवीय संबंधों के स्वरूपों का अध्ययन करना है । इस संप्रदाय के अनुसार समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में पृथक् अस्तित्व रखता है। अन्य सामाजिक विज्ञान वही अध्ययन नहीं करते हैं जो समाजशास्त्र करता है।

स्माल - स्माल यह मानते है कि समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का विशिष्ट अध्ययन है। इनका मत जॉर्ज सिमेल के मत से मिलता-जुलता है। उनका कहना है कि समाजशास्त्र का कार्य सामाजिक संबंधों और व्यवहारों या क्रियाओं के मूल रूप का विशिष्ट अध्ययन करना मात्र है, न कि समाज मे होने वाली प्रत्येक घटना अथवा क्रिया का।

वीरकांत - वीरकांत भी समाजशास्त्र को विशिष्ट विज्ञान मानते हैं। इनके अनुसार समाजशास्त्र को मानसिक संबंधों के उन स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए जो एक-दूसरे को बांधते है। वीरकांत के अनुसार ये मानसिक संबंध प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, ममता, सम्मान आदि से व्यक्त होते हैं।

वॉनविज का विचार है कि समाजशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र के अंतर्गत सामाजिक संबंधों के स्वरूपों का अध्ययन किया जाना चाहिए। इसके लिए उन्होंने सामाजिक संबंधों के 650 प्रकारों की चर्चा भी की है।

मैक्सवेबर का विचार है कि समाजशास्त्र को सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करना चाहिए। सामाजिक व्यवहार एक प्रकार की ऐसी क्रिया है जो कर्त्ता के अभिप्राय से दूसरों के व्यवहारों से संबंधित है और उसी से निश्चित होती है।

टॉनिज ने शुद्ध समाजशास्त्र के अध्ययन करने की दलील दी है। इन्होंने समाज एवं समुदाय में संबंधों के स्वरूपों के आधार पर अंतर किया है।

2.2.2 समन्वयात्मक संप्रदाय

इस समुदाय के प्रमुख समर्थक दुर्खीम, लेस्टर वार्ड, सोराकिन, हॉबहाउस आदि हैं। इस संप्रदाय के अनुसार समाजशास्त्र विशिष्ट विज्ञान न होकर एक सामान्य विज्ञान है। समाज का प्रत्येक भाग परस्पर संबंधित है। यदि उसके किसी एक भाग में परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव सारे समाज पर पड़ता है, अतएव सारे समाज का अध्ययन करना आवश्यक है।

1. दुर्खीम - इस्माइल दुर्खीम ने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए कहा है कि "समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्वों (प्रतिनिधानों) का विज्ञान है '' । प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे विचार, धारणाएं और भावनाएं होती हैं, जोकि सामाजिक अंतर्क्रिया के समय व्यक्तिगत चेतना के पारस्परिक प्रभावों के कारण स्पष्ट हो जाती हैं और जीवन में सामने आने लगती हैं। इसी कारण समाज के अधिकांश सदस्य उसे अपना लेते है और उनका विकास सामाजिक प्रतीकों के रूप में हो जाता है चूंकि इन प्रतीकों को समाज के अधिकांश सदस्य मानते हैं, इसीलिए यह सामूहिक रूप से समस्त समूह के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते है। समाजशास्त्र को सामूहिक प्रतिनिधित्वों को अपने विषय क्षेत्र में सम्मिलित करना चाहिए।

2. वार्ड -लेस्टर वार्ड का विचार है कि जिस प्रकार रसायनशास्त्र में दो वस्तुओं को मिला देने से एक नई वस्तु का जन्म होता है और उसका अध्ययन रसायनशास्त्र करता है, उसी प्रकार समाजशास्त्र ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का समन्वय मात्र है। समाज का निर्माण करने वाले समूह एवं संस्थाएं आदि परस्पर एक-दूसरे से संबंधित हैं, जिसके कारण एक पर हुआ परिवर्तन दूसरों पर प्रभाव डालता है। इसी प्रकार समाजशास्त्र का आधार, अन्य सामाजिक विज्ञानों के परिणाम है। अतएव समाजशास्त्र को विभिन्न सामाजिक विज्ञानों से प्राप्त केंद्रीय विचारों का समन्वय एवं अध्ययन करना चाहिए।

3. हॉबहाउस - हॉबहाउस का दृष्टिकोण भी समन्वयात्मक है। इनके अनुसार विभिन्न विज्ञानों का अध्ययन इस प्रकार से किया जाना अनिवार्य है, जिसमें कि उनके सिद्धांतों में समन्वय संभव हो पाए । समाजशास्त्र सामान्य जीवन का अध्ययन उसी समय पर कर सकता है जब समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों के आधार भूत विचारों का अध्ययन करे अथवा सामान्य केंद्रीय धारणाओं के खोजने का प्रयत्न करे इसलिए समाजशास्त्र अपने को विशेष प्रकार के संबंधों तक सीमित नहीं रख सकता।

उपर्युक्त दोनों विचारधाराएं परस्पर विरोधी हैं तथा दोनों का समान महत्व है। एक संप्रदाय के दृष्टिकोण से समाजशास्त्र विशेष संबंधों का अध्ययन करने वाला तथा दूसरे दृष्टिकोण से सामान्य संबंधों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। वास्तव में समाजशास्त्र के क्षेत्र से संबंधित दोनों दृष्टिकोणों में समन्वय करने की आवश्यकता है। एक ओर हमें समाज के मूल एवं सामान्य तत्वों का ज्ञान होना अनिवार्य है, जबकि दूसरी ओर सामाजिक जीवन के विशिष्ट पहलुओं की अवहेलना भी नहीं की जा सकती। अतः वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विषय-क्षेत्र के बारे में झगड़ा व्यर्थ है क्योंकि अपनी अध्ययन पद्धति के अनुरूप समाजशास्त्र विशिष्ट एवं सामान्य दोनों ही है।

बोध प्रश्न

i) स्वरूपात्मक संप्रदाय के बारे मैं चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

ii) किस विद्वान के अनुसार ''समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्वों (प्रतिनिधानों) का विज्ञान है ''

.....

.....

.....

2.3 समाजशास्त्र की विषय वस्तु

किसी भी विषय की विषय वस्तु से तात्पर्य उन पहलुओं अथवा बातों से है जिनका अध्ययन उसमें किया जाता है। विषय वस्तु का निर्धारण करना इसीलिए अनिवार्य है कि किसी भी विषय में सभी पहलुओं या बातों का अध्ययन नहीं किया जा सकता। ऐसा किसी भी विषय विशेष को अन्य विषयों से अलग करने के लिए भी अनिवार्य है। अन्य विषयों की भांति समाजशास्त्र की भी निश्चित विषय वस्तु है, परंतु एक नवीन विषय होने के कारण समाजशास्त्र की विषय वस्तु के संदर्भ में विद्वानों में मतभेद पाए जाते हैं।

दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र को निम्न तीन भागों से विभक्त कर अध्ययन किया जाना चाहिए-

1. **सामाजिक स्परूपशास्त्र** -इसके अंतर्गत सामाजिक संगठन बनाए रखने में सहायता करने वाली शक्तियों का अध्ययन किया जाता है। इसमें मुख्यतः भौगौलिक परिस्थितियां, जैसे जनसंख्या का घनत्व आदि, जिनका प्रभाव समाज के संगठन पर पडता है, का अध्ययन किया जाता है।

2. **सामाजिक शरीर रचना** -यह खंड अनेक उपखंडों में वर्गीकृत है तथा इनके अंतर्गत वे विषय आते हैं जिनका अध्ययन अन्य विशेष विज्ञान करते हैं, जैसे धर्म का समाजशास्त्र , कानून का समाजशास्त्र, ज्ञान का समाजशास्त्र आदि। समाजशास्त्र इनका समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करता है।

3. **सामान्य समाजशास्त्र** - इसमें उन विधियों का अध्ययन किया जाता है जो सामान्य हितों व सामाजिक नियमों को सुरक्षित रखने के लिए महत्वपूर्ण हैं। दुर्खीम के दृष्टिकोण में यह भाग समाज का दार्शनिक अंग है।

एलेक्स इंकलिस ने अपनी पुस्तक सोशियोलॉजी में समाजशास्त्र की विषय वस्तु का निर्धारण निम्नलिखित तीन विधियों द्वारा करने का प्रयास किया है-

1. **ऐतिहासिक विधि** - इस विधि द्वारा इंकलिस ने यह जानने का प्रयास किया है कि समाजशास्त्र के जन्मदाताओं ने इसकी विषय वस्तु के बारे में क्या कहा है। इसमें इन्होंने चार ऐसे प्रारंभिक समाजशास्त्रियों के विचारों का उल्लेख किया है जिन्होंने समाजशास्त्र को विज्ञान बनाने में सहायता की है। ये विद्वान निम्नलिखित हैं-

(i). **ऑगस्ट कॉम्टे** -कॉम्टे समाजशास्त्र के जन्मदाता माने जाते हैं क्योंकि उन्होंने ही 1838 ई0 में प्रथमतः समाजशास्त्र का प्रयोग किया था। उन्होंने अपना अधिक ध्यान समाजशास्त्र के अस्तित्व को स्वीकार करवाने में ही लगाया। वास्तव में कॉम्टे क्योंकि समाजशास्त्र को एक ऐसा विज्ञान मानते थे जिसमें सभी दृष्टिकोणों को एक साथ रखकर अध्ययन किया जा सकता है, अतः उन्होंने इसकी कोई विषयवस्तु निर्धारित नहीं की है। उन्होंने समाजशास्त्र की दो शाखाओं सामाजिक स्थैतिकी एवं सामाजिक गत्यात्मकता का उल्लेख किया है। प्रथम शाखा में उन्होंने अर्थव्यवस्था, परिवार, राजनीति आदि प्रमुख संस्थाओं के विश्लेषण पर बल दिया है, जबकि दूसरी शाखा में समाज को इकाई मानकर इसके विकास एवं परिवर्तन के अध्ययन पर बल दिया है। उन्होंने समाज का सम्रग रूप में अध्ययन करने को ही नही, अपितु समाजों के तुलनात्मक अध्ययनों को भी समाजशास्त्र की विषय वस्तु स्वीकार किया है।

(ii) **हरबर्ट स्पेंसर** - स्पेंसर की पुस्तक प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी जोकि 1877 ई0 में तीन खंडों में प्रकाशित हुई, प्रथम समाजशास्त्रीय विश्लेषण करने वाली कृति मानी जाती है। उन्होंने कॉम्टे के विपरीत समाजशास्त्र में अध्ययन की जाने वाली बातों को अधिक स्पष्ट रूप से विवेचना की है। उन्होंने परिवार, धर्म, सामाजिक नियंत्रण तथा उद्योग अथवा कार्य को ही समाजशास्त्र की विषय वस्तु नहीं बताया अपितु समितियों, समुदायों, श्रम-विभाजन सामाजिक विभिन्नीकरण तथा सामाजिक स्तरीकरण ज्ञान के समाजषास्त्र विज्ञान के समाजशास्त्र और कला के समाजशास्त्रीय विश्लेषण को समाजशास्त्र की विषय वस्तु में सम्मिलित किया है। उन्होंने भी संपूर्ण समाज को एक इकाई मानकर व्यापक पैमाने पर अध्ययन करने पर बल दिया है।

(iii). **इस्माइल दुर्खीम** - दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के अध्ययन पर बल दिया तथा स्वयं श्रम विभाजन, आत्महत्या और धर्म जैसे सामाजिक तथ्यों का अध्ययन किया। उन्होंने व्यक्तित्व धर्म, कानून, प्रतिमान, अपराध जनसंख्या, विज्ञान, कला आदि को तथा आर्थिक पहलुओं के समाजशास्त्रीय अध्ययन को समाजशास्त्र की विषयवस्तु में विशेष स्थान दिया है।

(iv). **मैक्स वेबर** - वेबर ने सामाजिक क्रिया, धर्म, आर्थिक जीवन के अनुपम पहलुओं जिसमें मुद्रा तथा श्रम विभाजन भी सम्मिलित है राजनीति दल, शक्ति एवं सत्ता अधिकारीतंत्र तथा अन्य बडे संगठनों, जाति एवं वर्ग नगर अथवा संगीत पर स्वयं अध्ययन किए और इनकी महत्ता पर प्रकाश डाला।

(v). **अनुभाविक विधि** - इस विधि द्वारा इंकलिस ने यह जानने का प्रयास किया है कि आज समाजशास्त्र में किन बातों को अधिक महत्व दिया जा रहा है अर्थात् समकालीन समाजशास्त्री क्या कर रहे हैं? यह पता तीन स्त्रोतों द्वारा

लगाया जा सकता है - अ- पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण ब- विभिन्न विद्वानों द्वारा समाजशास्त्र की भिन्न शाखाओं का समर्थन तथा स- अनुसंधान पत्रिकाओं व अन्य रिपोर्टों में प्रकाशित लेख। होर्नल हार्ट ने 1952 ई0 से 1958 तक की अवधि में अमेरिका में प्रकाशित 24 पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण करके 12 ऐसे पहलुओं या बातों का पता लगाया जिन्हें कम से कम 20 पाठ्य पुस्तकों में सम्मिलित किया गया था।

ये पहलू निम्नलिखित हैं-

1. समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति
2. समाजशास्त्र में व्यक्तित्व
3. संस्कृति
4. मानव समूह
5. जनसंख्या
6. जाति तथा वर्ग
7. प्रजाति
8. सामाजिक परिवर्तन
9. आर्थिक संस्थाएं
10. परिवार
11. शिक्षा
12. धर्म

3. **विशलेषण विधि -** इंकलिस का कहना है कि समाजशास्त्र के जन्मदाताओं के विचार तथा समकालीन समाजशास्त्रियों के अध्ययन की रूचि के विषय समाजशास्त्र की विषय वस्तु को निर्धारित करने में पर्याप्त नहीं हैं। अतः समाजशास्त्र की विषयवस्तु को तार्किक विश्लेषण द्वारा निर्धारित करना अनिवार्य है। अन्य शब्दों में इस विधि द्वारा इंकलिस ने समाजशास्त्र की वृहद विषय वस्तु को तार्किक दृष्टि से परिसीमित करने का प्रयास किया है। इंकलिस के अनुसार समाजशास्त्र की विशिष्ट विषयवस्तु में तीन पहलुओं में घटते क्रम में सम्मिलित किया जा सकता है। ये पहलू निम्नलिखित हैं-

अ- **समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है** - समाजशास्त्र एक ऐसा विशिष्ट विज्ञान है, जिसमें समाज को समग्र के रूप में विश्लेषण की एक इकाई माना जाता है। इस पहलू में विशेष समाजों के आंतरिक विभेदीकरण तथा उनकी बाहरी विशेषताओं से संबंधित समाज के विकास तथा समस्याओं के अध्ययनों को सम्मिलित किया जा सकता है। मैक्स वेबर तथा किंग्सल डेविस के अध्ययन इस श्रेणी के अध्ययनों के उदारहण हैं।

ब- **समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है**- समाजशास्त्र की विषय वस्तु का दूसरा विशिष्ट पहलू सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है। समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न अंगों तथा सामाजिक संस्थाओं जैसे परिवार, चर्च, स्कूल, तथा राजनीतिक दल आदि के अध्ययन पर बल दिया जाता है। संस्थाओं की सामान्य विशेषताओं, इनके परस्पर एवं संबंधों एवं कार्यों के अध्ययन भी इस पहलू में सम्मिलित किए जा सकते है। इंकलिस के अनुसार इस पहलू में अधिक अध्ययन नहीं हुए हैं तथा आज बड़ी संस्थाओं की अपेक्षा छोटी संस्थाओं के अध्ययन में रूचि बढ़ती जा रही है।

स- **समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों का अध्ययन है**- इंकलिस ने इस पहलू में सामाजिक संबंधों के अध्ययन पर बल दिया है। सामाजिक संबंध तीन प्रकार के हो सकते हैं- व्यक्ति- व्यक्ति के बीच व्यक्ति समूह के बीच तथा एक समूह और दूसरे समूह के बीच मेक्स वेबर, वॉन वीज, जॉर्ज सिमेल तथा टॉलकट पारसंस ने इस पहलू में महत्वपूर्ण अध्ययन किए हैं।

2.4 सारांश

उपर्युक्त इकाई के अध्ययन के बाद यह स्पष्ट होता है,अधिकांश लोग समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र (Scope) तथा विषय वस्तु (Subject-Matter) को एक ही समझ लेते हैं, जबकि दोनों में पर्याप्त अंतर है। विषय क्षेत्र का तात्पर्य वे संभावित सीमाएं हैं जहां तक किसी विषय का अध्ययन संभव होता है, जबकि विषय वस्तु से निश्चित सीमाएं हैं जिनके अंतर्गत अध्ययन किया जा सकता है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान व्यक्तियों के सामाजिक जीवन को तथा विभिन्न घटनाओं को अपने - अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करता है इसके अध्ययन का एक पृथक दृष्टिकोण है तथा इसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक संबंधो एवं सामाजिक संरचना की व्यवस्थित व्याख्या करना है

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

सामाजिक विज्ञान – वे विज्ञान जो समाज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करते हैं, सामाजिक विज्ञान कहे जाते हैं

समाजशास्त्र – समाजशास्त्र वह विषय है जो समाज का क्रमब्रद्ध अध्ययन करता है

सामाजिक अंतक्रिया– दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच होने वाली अर्थपूर्ण क्रिया को सामाजिक अंतर्क्रिया कहते हैं

2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न

i) उत्तर के लिए देखिए 2.2.1

ii) दुर्खीम

2.7 संदर्भ ग्रंथ

Lumley, F.E., Principles of Sociology, New York: MacGraw-Hill Book Company, 1935.

Johnson, Harry M.,Sociology : A Systematic Introduction, London : Routledge & Kegan Paul,1961.

Gisbert,P.,Fundamentals of Sociology, New Delhi:Prentice-Hall of India,1965.

2.8 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Cuber,J.F., Sociology,Mishawaka:Addison-Welsey, 1983.

Bottomore, T.B., Sociology: A Guide to Problems & Literature, London:Allen & Unwin,1969.

2.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. समाजशास्त्र की विषय वस्तु व विषय क्षेत्र पर चर्चा कीजिए?

2. "समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्वों (प्रतिनिधानों) का विज्ञान है '' चर्चा कीजिए

3- स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टवादी संप्रदाय को स्पष्ट कीजिए।

4- समन्वयात्मक संप्रदाय को स्पष्ट कीजिए।

इकाई-3- समाजशास्त्र एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध : मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र (Sociology & its relationship with Other Social Sciences: Anthropology, Psychology, History, Economics, Political Science)

इकाई की रूपरेखा

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान

3.3 समाजशास्त्र और मानवशास्त्र

3.4 समाजशास्त्र और मनोविज्ञान

3.5 समाजशास्त्र और इतिहास

3.6 समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र

3.7 समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

3.8 सारांश

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.12 निबंधात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

मानव जीवन के सभी पहलुओं को समझने के लिए उसके किसी एक नहीं वरन सभी पक्षों का अध्ययन आवश्यक होता है। मनुष्य के जीवन को प्राकृतिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के तत्व प्रभावित करते हैं। सामाजिक ज्ञान की सीमाएं इतनी अधिक विस्तृत हैं कि सभी सामाजिक विज्ञानों को इसमें से आवश्यक विषयवस्तु प्राप्त हो जाती है। इसीलिए विषयवस्तु की दृष्टि से विज्ञानों को प्रमुखतः दो श्रेणियों में बांटा गया है:-

(i) प्राकृतिक विज्ञान

(ii) सामाजिक विज्ञान

प्राकृतिक विज्ञानों के अंतर्गत क्रमशः भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, जीवविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान आदि आते हैं। सामाजिक विज्ञानों में अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, इतिहास आदि का अध्ययन किया जाता है। जहां प्राकृतिक विज्ञानों के अंतर्गत भौतिक जगत या उससे संबंधित घटनाओं का अध्ययन किया जाता है वहीं सामाजिक विज्ञानों में मानवीय क्रियाओं, समाज और सामाजिक प्रघटनाओं का विश्लेषण एवं व्याख्या की जाती है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस समानता के बाद भी विभिन्न सामाजिक विज्ञानों को एक-दूसरे के पूर्णतया समान क्यों नहीं माना जाता है। वास्तविकता में इसका मुख्य कारण 'विशेष सामाजिक विज्ञान' और सामान्य सामाजिक विज्ञान की धारणा है। जैसे अर्थशास्त्र के अंतर्गत केवल आर्थिक क्रियाओं का, राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत राज्यों से संबंधित तथ्यों का अध्ययन किया जाता है। यह दोनों ही विज्ञान एक विशेष प्रकार के एवं अपने ही क्षेत्र का अध्ययन करते हैं। इसी लिए इन्हें विशेष विज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है। वहीं समाजशास्त्र समाज के किसी विशेष पहलू का अध्ययन न करके संपूर्ण समाज का अध्ययन करता है। इसीलिए समाजशास्त्र की प्रकृति अन्य विशेष विज्ञानों की तुलना में भिन्न हो जाना स्वाभाविक है। उक्त तथ्यों को विभिन्न विद्वानों द्वारा इस प्रकार परिभाषित किया गया है।

कॉम्टे के अनुसार, "समाज एक समग्रता है जिसका अध्ययन अनेक भागों में विभाजित करके नहीं किया जा सकता।''स्पेंसर का कहना है कि समाजशास्त्र अनेक विज्ञानों का समन्वय है।

सोरोकिन के कथनानुसार , "समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों का जनक नहीं है अपितु उसी प्रकार एक स्वतंत्र विज्ञान है जिस प्रकार दूसरे सामाजिक विज्ञानों का एक स्वतंत्र अस्तित्व होता है।''

सेलिगमेन के अनुसार समाज विज्ञानों को उन मानसिक या सांस्कृतिक विज्ञानों के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है जो कि व्यक्ति की क्रियाओं का समूह का सदस्य मानकर अध्ययन करते हैं।

गिलिन और गिलिन का कहना है कि समस्त सामाजिक विज्ञान मुख्य रूप से मानव क्रियाओं और व्यवहारों का उनके सामाजिक समूहों के सदस्य के रूप में अध्ययन करता है। वे आपस में मुख्य रूप से अपनी रूचियों की व्यवस्था के कारण अलग हैं।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप जान सकेंगे -

- समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान से आशय
- समाज विज्ञानों के बीच संबंध
- समाजशास्त्र और अन्य समाज विज्ञानों के बीच अंतर
- समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र में अंतर
- समाजशास्त्र और इतिहास में अंतर
- समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में संबंध
- समाजशास्त्र और राजनीतिक विज्ञान में अंतर

इस प्रकार इन सभी पक्षों का अध्ययन करने के पश्चात आप विषय या घटना को समग्र रूप से देखना एवं समझना सीख सकेंगे।

3.2 समाजशास्त्र एक समाज विज्ञान

मनुष्य एक जिज्ञासु प्राणी है और इसी कारण मनुष्य की हमेशा से ही नई-नई खोज करना प्रकृति रही है। वह अपने इर्द-गिर्द व्याप्त समस्याओं को सुलझाने में प्रयासरत रहा है। इसीलिए विश्व की आधारभूत जिज्ञासाओं को तुष्ट करने के लिए एवं प्राकृतिक विश्व को भलीभांति समझने के लिए ही मनुष्य ने विज्ञान एवं वैज्ञानिक विधियों का निर्माण किया। इसी आवश्यकता ने समाजशास्त्र में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग समाज एवं मानवीय व्यवहारों के अध्ययन के लिए किया जैसे अवलोकन एवं सांख्यिकीय, गणना आदि। समाजशास्त्र का अन्य विज्ञानों से संबंध को हम इस प्रकार समझ सकते है कि यदि समाजशास्त्र को हम मनोविज्ञान से जोड़कर देखते हैं तो पाते हैं कि इसके अंतर्गत हम सामाजिक सीख, मानव व्यक्तित्व एवं मानव व्यवहार को समाज में रहकर ही सीखते हैं। मानवशास्त्र का संबंध भी इसी तरह का है जिसमें हम संस्कृति, सामाजिक संगठन एवं नातेदारी व्यवस्था को समाज के संदर्भ में देखते हैं। राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत सामाजिक नियंत्रण, व्यक्ति और समाज एवं सामाजिक चेतना के संदर्भ में, इतिहास के

अंतर्गत ऐतिहासिक पद्धति, सामाजिक परिवर्तन एवं कार्य-कारण संबंध के परिप्रेक्ष्य में समाजशास्त्र से जोड़ते है। अन्त में दर्शनशास्त्र को सामाजिक दर्शन, सामाजिक मूल्य एवं सामाजिक न्याय के परिप्रेक्ष्य में जोड़ सकते हैं।

विभिन्न समाज विज्ञानों में से प्रत्येक द्वारा सामाजिक-जीवन के किसी न किसी पहलू का अध्ययन किए जाने के कारण उन सभी में पास्परिक संबंधों का होना स्वाभाविक है। प्रत्येक समाज विज्ञान समाज और मानवीय क्रियाओं का एक विशेष दृष्टिकोण से अध्ययन करता है, प्रत्येक का अपना एक विशिष्ट ध्यानबिंदु होता है। इस कृति से प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की अपनी-अपनी विशिष्ट विषय-वस्तु या अध्ययन-सामग्री है और प्रत्येक ने अपनी विशेष अध्ययन-पद्धतियां को विकसित भी किया है।

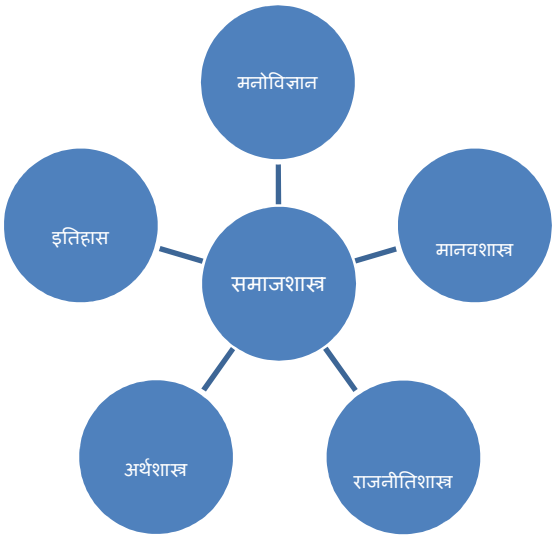

अतः जहां तक समाजशास्त्र का अन्य समाज विज्ञानों के साथ संबंध का प्रश्न है, तो यह इन सभी में पारस्परिक आदान-प्रदान है। समाजशास्त्र अन्य समाज विज्ञानों से और अन्य समाज विज्ञान समाजशास्त्र से बहुत कुछ ग्रहण करते हैं। विभिन्न समाज विज्ञानों के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित होने के बावजूद समाजशास्त्र का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। इस प्रकार समाजशास्त्र का अन्य समाज विज्ञानों के बीच पाए जाने वाले संबंधों को हम इस प्रकार समझ या विवेचना कर सकते हैं।

3.3 समाजशास्त्र और मानवशास्त्र

इवांस प्रिचार्ड का मानना है कि सामाजिक मानवशास्त्र को समाजशास्त्रीय अध्ययनों की एक शाखा कहा जा सकता है, वह शाखा जो प्रमुखतः अपने को आदिम समाजों के अध्ययन में लगाती है। समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग सभ्य समाजों की विशिष्ट समस्याओं के अध्ययन के लिए किया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के बीच निकट का संबंध है, क्योंकि दोनों प्रबल रूप से समूह-व्यवहार के वैज्ञानिक सामान्यीकरणों से संबंधित हैं।

सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र दोनों द्वारा समाजों का अध्ययन किया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्र द्वारा विशेषतः आदिम समाजों का अध्ययन किया जाता है जबकि समाजशास्त्र आधुनिक जटिल समाजों का अध्ययन करता है। दोनों सामाजिक विज्ञान सूक्ष्म एवं विशाल दोनों प्रकार से अध्ययन करते हैं। सामाजिक मानवशास्त्र में समाजों का उनकी संपूर्णता में अध्ययन किया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्री आदिम लोगों की अर्थव्यवस्था, उनके परिवार और नातेदारी संगठनों का, उनकी प्रौद्योगिकी तथा कलाओं का सामाजिक व्यवस्थाओं के भागों के रूप में अध्ययन करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक परिस्थितियों में मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन करता है। यहां पर यदि हम कुछ विद्वानों की परिभाषाओं के माध्यम से स्पष्ट करें कि मानवशास्त्र एवं समाजशास्त्र में क्या विभिन्नता एवं समानता है तो हम अच्छे से समझ सकेंगे।

क्रोबर के अनुसार समाजशास्त्र और मानवशास्त्र जुड़वा बहिनें हैं। सामाजिक मानवशास्त्री सरल और छोटे आदिम समाजों का अध्ययन कर समाजशास्त्री को आधुनिक जटिल सभ्य समाजों को समझने में सहायता पहुंचाता है। मानवशास्त्री समाजशास्त्री को मानव की प्रकृति को अधिक क्षमता के साथ समझने में योग देता है। दूसरी ओर समाजशास्त्री भी आधुनिक जटिल समाजों में विशिष्ट समस्याओं का अध्ययन कर मानवशास्त्री के लिए अनेक उपकल्पनाएं प्रस्तुत करता है।

समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र की दो शाखाओं-सांस्कृतिक एवं सामाजिक मानवशास्त्र द्वारा सामाजिक संरचना, सामाजिक संगठन, सामाजिक संस्थाएं, धर्म आदि का अध्ययन किया जाता है। अर्थात दोनों की विषय वस्तु सामान्य है लेकिन परिप्रेक्ष्य अलग-अलग हैं। संस्कृति के विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र समाजशास्त्र के काफी निकट है। किसी भी समाज के संबंध में यथार्थ जानकारी प्राप्त करने के लिए उस समाज की संस्कृति को समझना अत्यंत आवश्यक है।

मानवशास्त्रीय अध्ययन समाजशास्त्रीय अनुसंधानकर्ता के लिए अनुसंधान कार्य की पृष्ठभूमि तैयार करता है। यही कारण है कि इन दोनों विषयों का निकट का संबंध अनुसंधान की दृष्टि से भी अधिक लाभप्रद है। बोटोमोर ने भारत के संदर्भ में समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र के बीच पाए जाने वाले घनिष्ठ संबंध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भारतीय समाज न तो आदिम समाजों के समान पूरी तरह पिछड़ा हुआ है और न ही औद्योगिक समाजों के समान पूर्णतः विकसित। ऐसे समाजों में समाजशास्त्र व मानवशास्त्र के मध्य अधिक अंतर कोई अर्थ नहीं रखता। अतः निश्चित रूप से समाजशास्त्र और मानवशास्त्र घनिष्ठरूप से परस्पर एक-दूसरे से संबंधित हैं। हॉबल कहते हैं कि 'विस्तृत अर्थों में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र एक ही हैं, समान हैं।'

समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र में यद्यपि घनिष्ठ संबंध पाया जाता है, परंतु दोनों एक नहीं हैं, दोनों में कुछ महत्वपूर्ण अंतर निम्नानुसार हैं:

इनमें विषय-क्षेत्र की दृष्टि से अंतर पाया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्र प्रमुखतः आदिम समाजों का अध्ययन करता है, जबकि समाजशास्त्र सभ्य समाजों का अध्ययन करता है। इन दोनों में पद्धति संबंधी अंतर भी पाया जाता है। वर्तमान में सामाजिक मानवशास्त्र में प्रमुखतः अर्द्ध-सहभागी अवलोकन पद्धति का प्रयोग किया जाता है। दूसरी ओर समाजशास्त्री साक्षात्कार अनुसूची या प्रश्नावली आदि बनाकर सूचनाएं एकत्र करता है तथा प्रलेखों एवं सांख्यिकीय पद्धति का सहारा लेता है।

अभ्यास के लिए आप यहां एक स्थिति का अध्ययन कर देख सकते हैं जिसमें आदिम समाज के अध्ययन में समाज की प्रासंगिकता को भी शामिल किया जाए तो आप यह देख सकेंगे कि किस प्रकार समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र का अर्न्तसंबंध है।

3.4 समाजशास्त्र और मनोविज्ञान

समाज का निर्माण करने वाले परस्पर सामाजिक संबंध व्यक्ति, की मानसिकता से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति का मनोविज्ञान सामाजिक जीवन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यह सामाजिक दशाओं द्वारा निर्धारित होता है। इसका तात्पर्य है कि सामाजिक दशाएं जिस प्रकार होंगी मनुष्य उसी प्रकार से सोचेगा एवं व्यवहार करेगा। इस प्रकार हम समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींच सकते हैं। हां कुछ हद तक समाजशास्त्र को मनोविज्ञान पर निर्भर अवश्य मान सकते है। इस संदर्भ में कहॉ जा सकता है कि सामाजिक संबंधों एवं सामाजिक जीवन का अध्ययन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक हम मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों, इच्छाओं, स्मृति, बुद्धि एवं प्रेरणाओं और उद्देश्यों का हमें कोई ज्ञान न हो। ये सभी आधार मनोवैज्ञानिक हैं।

किंबाल यंग ने सामाजिक मनोविज्ञान को 'पारस्परिक क्रियाएं करते हुए व्यक्तियों का अध्ययन कहकर परिभाषित किया है।

इस प्रकार सामाजिक मनोविज्ञान समाज में व्यक्तियों के अंतर्संबंधों एवं व्यवहारों का अध्ययन करता है।

टालकट पार्संस के अनुसार "मनोविज्ञान व्यवहार की प्राथमिक प्रक्रियाओं, जैसे-संज्ञान ,सीख तथा स्मरण से संबंधित है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जहां समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करता है वहीं मनोविज्ञान मानसिक व्यवस्था का अध्ययन करता है।

3.5 समाजशास्त्र और इतिहास

समाजशास्त्र और इतिहास परस्पर घनिष्ठ रूप से अंतर्संबंधित हैं। जहां इतिहास समाज की अतीत की घटनाओं, समाज में रहने वाले लोगों के जीवन, समाज में आए परिवर्तनों, उन विचारों जो समाज को प्रभावित करते हैं और उन भौतिक दशाओं जो विकास में सहायक या असहायक हैं, का संकलन या रिकार्ड है। किसी भी समाज का वर्तमान चाहे उसके अतीत की प्रतिलिपि भले ही न हो परंतु अतीत की छाप उस पर अवश्य ही छोड़ता है। वर्तमान भविष्य का इतिहास है लेकिन वर्तमान ही भविष्य का निर्माण भी करता है। समाजशास्त्र समाज के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन से संबंधित है। इन दोनों विषयों के बीच कुछ महत्वपूर्ण संबंध निम्न प्रकार हैं:

समाजशास्त्र समाज के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन से संबंधित है। समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं के रूप में जीवन के विभिन्न चरण, परंपरा, रीति-रिवाज आदि का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र को इन सभी तथ्यों के अध्ययन के लिए इतिहास पर निर्भर रहना पड़ता है। इतिहास को जाने बिना वर्तमान का अध्ययन नहीं किया जा सकता। किसी भी समाज के अध्ययन एवं वास्तविक मूल्यांकन के लिए उसके इतिहास का ज्ञान आवश्यक है। दूसरी ओर इतिहास भी समाजशास्त्र द्वारा प्रतिपादित समाज व संगठन के सिद्धांतों की सामान्य दृष्टि को अध्ययन के लिए आधार बनाता है। इतिहास के द्वारा रीति-रिवाज, परंपराएं, मनोवृत्तियां, विचार, मूल्य, दर्शन आदि की जानकारी ली जाती है। इतिहास समाज की गतिशीलता पर प्रकाश डालता है और समाजशास्त्रीय अध्ययन में सहायक सिद्ध होता है।

घटनाओं के घटने के क्रम के संबंध में इतिहासकार की व्याख्या समाजशास्त्री के वर्तमान सामाजिक विश्लेषण का मार्गदर्शन करती है। अतीत के कार्य-करण संबंध के विश्लेषण में वर्तमान के लिए इस विश्लेषण को जो कि समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र है, दोनों विज्ञानों को और अधिक समीप कर दिया है।

टॉयनबी की पुस्तक ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री समाजशास्त्रीय अध्ययन में बहुत महत्वपूर्ण है। वर्तमान में इतिहास का अध्ययन भी सामाजिक दृष्टिकोण से किया जाने लगा है।

वैज्ञानिक अनुसंधानों और प्रौद्योगिकी विकास से विश्व की भौतिक निरंतरता कम होती जा रही है लेकिन मानसिक परिप्रेक्ष्य में विभिन्न समाजों को समीप लाने का प्रयत्न सम्मिलित रूप से इतिहासकार और समाजशास्त्री ही करेंगे। यदि इतिहासकार सृजनात्मक दृष्टिकोण में इतिहास लिखता है तो यहां रहने वाले विभिन्न सप्रंदायों में पारस्परिक मेलजोल, सौहार्द और सहिष्णुता पनप सकती है, जो सभी के लिए हितकर है।

बीयरस्टीड के अनुसार 'अगर अतीत को शताब्दियों से लुढ़कता हुआ एक वस्त्र मान लिया जाए तो इतिहास की रूचि उन विशिष्ट धागों और किनारों में होगी जो उस वस्त्र को बनाता है, जबकि समाजशास्त्र की रूचि उस वस्त्र से दिखने वाले प्रतिमानों में होगी'। अतः इतिहास और समाजशास्त्र एक-दूसरे से संबंधित हैं। इतिहास का अध्ययन समाजशास्त्र

के अध्ययन के बिना और समाजशास्त्र का अध्ययन इतिहास के अध्ययन के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। जहां समाजशास्त्र में वर्तमान का तानाबाना होता है वहीं इतिहास में अतीत की सच्चाई होती है जो निश्चित रूप से आधार प्रदान करता है। जी. ई. हावर्ड के अनुसार 'इतिहास भूतकाल का समाजशास्त्र है और समाजशास्त्र वर्तमान का इतिहास'

समाजशास्त्र और इतिहास में समानता होने पर भी कुछ असमानता हैः

- इतिहास व्यक्तिकरण का विज्ञान है जबकि समाजशास्त्र एक सामान्यीकरण का विज्ञान है। इतिहास और समाजशास्त्र में अंतर काल का है। इतिहास अतीत का अध्ययन करता है तो समाजशास्त्र वर्तमान का। समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र इतिहास की पृष्ठभूमि का अध्ययन है। जहां समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रिया के अंर्तगत घटने वाली कुछ घटनाओं का अध्ययन है। समाजशास्त्र भविष्य की ओर संकेत करने की क्षमता रखता है जबकि इतिहास केवल अतीत के यथार्थ का निरूपण करता है। समाजशास्त्र सामग्री संकलन में ऐतिहासिक सामग्री तथा ऐतिहासिक पद्धति को एक पद्धति के रूप में अपनाता है जबकि अन्य पद्धतियां भी उपयोग में लाई जाती हैं। इतिहास में अन्य पद्धतियों के प्रयोग की संभावनाएं नहीं हैं।

- समाजशास्त्र व्यापक है जबकि इतिहास संकुचित। समाजशास्त्री का मुख्य लक्ष्य समाज के सामान्य नियमों की खोज करना होता है, वहीं इतिहासकार का मुख्य लक्ष्य ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमबद्ध तरीके से विवरण देना है। विशिष्ट समाजशास्त्रीय अध्ययन में प्रयोग की संभावना रहती है जबकि इतिहास के अध्ययन में प्रयोग संभव नहीं होता क्योंकि जो ऐतिहासिक घटना घटित हो चुकी है। उसे पुनः नहीं दोहराया जा सकता। इतिहास महत्वपूर्ण घटनाओं के विभिन्न पहलुओं पर अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र किसी भी घटना को सामाजिक संबंधों के संदर्भ में समझता है। उदाहरण के लिए, इतिहासकार युद्ध के हर पहलू का अध्ययन करेंगे जबकि समाजशास्त्री युद्ध का एक सामाजिक घटना के रूप में अध्ययन करेंगे। वे लोगों पर युद्ध के प्रभाव आदि का अध्ययन करेंगे।

बोध प्रश्न - 1

i) ' समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र दोनों जुड़वा बहनें हैं' किसने कहा है ?

---

ii) समाजशास्त्र-सामाजिक मानवशास्त्र में कोई दो अंतर बताइए।

---

iii) समाजशास्त्र व इतिहास के बीच कोई दो अंतर बताइए।

3.6 समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र

समाजशास्त्र का अर्थशास्त्र से संबंध को समझने से पहले हम अर्थशास्त्र को समझ लेंगे, तो विषय-वस्तु को समझने में आसानी होगी। अर्थशास्त्र के अंतर्गत मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं या आर्थिक व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है। अर्थशास्त्र का अध्ययन भौतिक वस्तुओं या सेवाओं के उत्पादन, वितरण और उपभोग से संबंधित व्यक्ति के व्यवहार से है। ब्रिटिश अर्थशास्त्री मार्शल के अनुसार 'अर्थशास्त्र मनुष्य की उन क्रियाओं का अध्ययन करता है जो कि आवश्यकताओं की संतुष्टि के भौतिक साधनों को प्राप्त करने के लिए की जाती है।' जबकि समाजशास्त्र के अंतर्गत मनुष्य की सामाजिक क्रियाओं या गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र समग्र रूप में मानवीय व्यवहार एवं समाज को समझने का प्रयास करता है।

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के बारे में सिल्वरमैन ने लिखा है कि सामान्य कार्यों या लक्ष्यों के लिए इसे (अर्थशास्त्र) समाजशास्त्र नामक पितृ विज्ञान की, जो सभी सामाजिक संबंधों के सामान्य सिद्धांतो का अध्ययन करता है, एक शाखा माना जा सकता है। अर्थशास्त्र में मानव की आर्थिक क्रियाओं का जबकि समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन भी करता है। इसकी एक विशिष्ट शाखा समाजशास्त्रीय अर्थशास्त्र भी होगा लेकिन वास्तविकता यह है कि ये दोनों अपने-अपने अध्ययन क्षेत्र और विषय-सामग्री की दृष्टि से स्वतंत्र विज्ञान है।

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र घनिष्ट रूप से एक-दूसरे से संबंधित हैं। कॉम्ट, जे.एस. मिल, पैरेंटो, वेबलिन, कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर आदि विद्वानों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से यह स्पष्टतः सिद्ध कर दिया है कि ये दोनों विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं, इनका पृथक-पृथक रूप से अध्ययन नहीं किया जा सकता। इन दोनों समाजविज्ञानों में घनिष्ट संबंध है:

(1) व्यक्ति की सामाजिक क्रियाओं और व्यवहार पर आर्थिक परिस्थितियों का और आर्थिक क्रियाओं एवं व्यवहार पर सामाजिक परिस्थितियों का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है। मैकाइवर के अनुसार आर्थिक घटनाएं सदैव सभी प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओं एवं क्रियाओं के द्वारा निर्धारित होती हैं और बदले में स्वयं भी निरंतर सभी प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओं तथा क्रियाओं का पुनर्निधारण, सृष्टि, संगठन एवं रूपांतरण करती रहती हैं।

(2) भौतिक साधनों को जुटाने के दौरान मनुष्य अन्य व्यक्तियों, समूहों, समाजों आदि के संपर्क में आता है। इस प्रकार उसकी आर्थिक क्रिया बहुत अंशों में सामाजिक क्रिया हो जाती है। आर्थिक क्रिया सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों से संचालित होती है।

(3) व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति की व्यय-क्षमता सामाजिक स्थिति को प्रभावित करती है। भौतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त कई सामाजिक आवश्यकताएं जैसे निश्चित तथा विशेष स्तर की वेशभूषा, शादी-विवाह तथा उत्सवों, धार्मिक कृत्यों का व्यय आदि यद्यपि आर्थिक क्रिया से संबंधित नहीं है लेकिन इनका प्रभाव आर्थिक स्थिति पर एवं आर्थिक स्थिति का प्रभाव इन पर पड़ता है।

(4) दोनों शास्त्र एक-दूसरे के अध्ययन को व्यापकता और साथ ही निश्चितता प्रदान करने में भी सहायता प्रदान करते हैं।

(5) समाज विशेष की परपराएं, प्रथाएं, संस्थाएं तथा लोक विश्वास आर्थिक क्रियाओं को काफी प्रभावित करते हैं और स्वयं आर्थिक क्रियाएं सामाजिक संरचना को बहुत प्रभावित करती हैं।

(6) अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र ऐसी समस्याओं का अध्ययन करते हैं जो एक-दूसरे के क्षेत्र के अंतर्गत आती हैं - जैसे उद्योगीकरण, नगरीकरण, श्रम समस्याएं, श्रम कल्याण, बेकारी, निर्धनता, ग्रामीण समस्याएं, ग्रामीण पुनर्निर्माण आदि। इन समस्याओं पर जब तक आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोण से विचार नहीं किया जाता तब तक न तो इन्हें ठीक से समझा जा सकता है और न ही इन्हें हल किया जा सकता है।

मैक्स वेबर, कार्ल मार्क्स आदि विद्वानों ने अपने अध्ययनों के माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया है कि आर्थिक और सामाजिक कारकों में घनिष्ट संबंध पाया जाता है। मैक्स वेबर ने प्रोटेस्टेंट इथिक्स और स्पिरिट ऑफ केपिटेलिज्म में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के अंतर को स्पष्ट किया है। दूसरी और कार्ल मार्क्स समाज के आर्थिक ढांचे को मूल संरचना कहते हैं। शेष सभी संस्थाएं उसकी उपज होती हैं और आर्थिक ढांचे में परिवर्तन से समाज की अन्य संस्थाओं

में परिवर्तन की बात करते हैं। केरन के अनुसार, 'अर्थशास्त्रियों ने यह जान लिया है कि समाजशास्त्र सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक सामंजस्य, सामाजिक शक्तियां, प्रतिस्पर्धा और सामूहिक व्यवहार की समस्या के स्पष्टीकरण में सहायक है तथा समाजशास्त्री समाज के अर्थशास्त्रीय पहलू को समझने के लिए बहुत अधिक अर्थशास्त्र की ओर झुकने लगे हैं। अतः समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में घनिष्ट संबंध है। वर्तमान में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में दिन-प्रतिदिन सहयोग बढ़ता जा रहा है। दूसरी और अर्थशास्त्र के आधुनिक विज्ञान समाज के मानवीय पक्ष को आर्थिक पक्ष के लिए महत्वपूर्ण आधार के रूप में देखने लगे हैं।

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में निम्नलिखित अंतर भी पाए जाते हैं-

- समाजशास्त्र मानव जीवन का सामान्य सर्वपक्षीय अध्ययन है जबकि अर्थशास्त्र केवल आर्थिक पक्ष का विशिष्ट अध्ययन है।
- समाजशास्त्र में प्रमुखतः सामाजिक संबंधों का जबकि अर्थशास्त्र में आर्थिक संबंधों का अध्ययन किया जाता है।
- समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का जबकि अर्थशास्त्र में मानव जीवन के केवल आर्थिक पक्षों का अध्ययन किया जाता है।
- समाजशास्त्र का दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय, बहुकारकीय और काफी व्यापक है जबकि अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण आर्थिक और तुलनात्मक दृष्टि से सीमित है। अर्थशास्त्रीय विश्लेषण में केवल आर्थिक कारक को ही प्रमुखता दी जाती है।

इस प्रकार समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र समानताओं और असमानताओं के बावजूद एक-दूसरे से पारस्परिक संबंध रखते हैं क्योंकि आधारभूत एकता की कड़ी मानव है जिसके जीवन का अध्ययन दोनों ही करते हैं।

3.7 समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

राजनीतिशास्त्र की रूचि, प्रमुखत समाज के अध्ययन में है इस शास्त्र के द्वारा राज्य तथा राजकीय प्रशासन के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है। इस प्रकार राजनीतिशास्त्र राजनीतिक संबंधों का विस्तृत अध्ययन है। राजनीतिशास्त्र संगठित मानव संबंधों (राजनीतिक संबंधों) का अध्ययन करता है और ये संबंध सामाजिक संबंधों का ही एक अंग है। समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र के बीच घनिष्ठ संबंध है। कुछ समय पूर्व तक राज्य और समाज में कोई भेद नहीं किया जाता था और इसी कारण समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र एक ही विषय के अंतर्गत आते थे। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में राज्य और समाज में अंतरकिया जाने लगा तथा राज्य का अध्ययन राजनीतिशास्त्र के द्वारा और जाति, वर्ग, परिवार, धर्म एवं कानून आदि का समाजशास्त्र के द्वारा किया जाने लगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का घनिष्ट संबंध है। इन विज्ञानों के संबंध को निम्नलिखित बिंदु दर्शाते हैं -

(1) पूर्व काल में सामाजिक विषयों पर मुख्य पुस्तकें थीं - प्लेटो की रिपब्लिक, अरस्तू की पॉलिटिक्स और अन्य प्रतिष्ठित पुस्तकें जो कि पूर्वी और पश्चिमी राजनीतिशास्त्र में पूर्ण मानी जाती थीं।

(2) राजनीतिशास्त्र मनुष्य को एक राजनीतिक प्राणी मानता है पर वह राजनीतिक प्राणी क्यों और कैसे बना, यह जानकारी समाजशास्त्र ही प्रदान करता है। इस प्रकार समाजशास्त्र की नींव पर राजनीतिशास्त्र के भवन का निर्माण होता है।

(3) राजनीतिशास्त्र मानव संबंधों का अध्ययन करता है जो कि सामाजिक संबंधों का अंग है। गिलक्राइस्ट के अनुसार 'राजनीतिशास्त्र मानव संबंधों के तथ्यों और सिद्धांतो को ग्रहण करता है, जिन सिद्धांतो और तथ्यों का अध्ययन तथा प्रतिपादन करना समाजशास्त्र का कर्तव्य है।'

(4) वर्तमान में दोनों शास्त्रों का संबंध इतना बढ़ गया है कि परिणामस्वरूप राजनीति का जीवन पर प्रभाव अध्ययन करने के लिए समाजशास्त्र की एक नवीन शाखा 'राजनीतिक समाजशास्त्र' का विकास हुआ है।

(5) राज्य की सदस्यता भी प्रायः जन्म से निधार्रित होती है। राज्य किस प्रकार का है, इसका सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा अन्य बातों पर प्रभाव पड़ता है। पारिवारिक प्रकार, शिक्षा, आस्थाएं, परम्पराएं एवं रीति-रिवाज इत्यादि राजनीतिक स्थिति द्वारा संचालित होते हैं।

भारतीय, अमेरिकी, रूसी या चीनी परिवारों का गठन एवं संरचना यहां की राजनीतिक विचारधारा के अनुकूल है। इस प्रकार राजनीतिक जीवन को सामाजिक जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता। दोनों ही एक-दूसरे पर पारस्परिक प्रभाव डालते हैं। जिंसबर्ग के अनुसार 'समाजशास्त्र की उत्पति राज्य के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं के अध्ययन करने के लिए राजनीतिक अन्वेषण के क्षेत्र में विकास के फलस्वरूप हुई। उदाहरणतः परिवार के स्वरूप और संस्कृति और सभ्यता के अन्य तत्व जैसे आधार, धर्म और कला ये सामाजिक उपज माने जाते हैं और एक-दूसरे के संदर्भ में इनका अवलोकन किया जाता है।'

(6) समाजशास्त्रीय सिद्धांतों एवं पद्धतियों का राजनीतिशास्त्र में काफी प्रयोग होने लगा है।

(7) राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए, उदाहरण के रूप में मतदान-व्यवहार को जानने के लिए सामाजिक तथ्यों, विभिन्न सामाजिक संस्थाओं जैसे जाति प्रणाली, संयुक्त परिवार प्रणाली, वर्ग-भेद, स्त्रियों की स्थिति आदि के संबंध में जानकारी आवश्यक है। प्रामाणिक आधार पर यह जानकारी समाजशास्त्र से ही मिल सकती है।

राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के बीच कुछ स्पष्ट अंतर हैं जो निम्नलिखित हैं-

(1) राजनीतिशास्त्र मानव के राज्य, राजनीतिक दल, नीति, आदि का अध्ययन करता है राजनीति शास्त्र जहां भी शक्ति है उसका अध्ययन करता है जाति में शक्ति है, राजनीति शास्त्री इसका भी अध्ययन करता है। जबकि समाजशास्त्र मानव के संपूर्ण संगठनों का अध्ययन करता है।

(2) समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जबकि राजनीतिशास्त्र एक विशेष विज्ञान है। राजनीतिशास्त्र जीवन के एक विशिष्ट पक्ष का अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र जीवन के सामान्य पक्षों का अध्ययन करता है।

(3) समाजशास्त्र सभी प्रकारों के सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है जबकि राजनीतिशास्त्र सामाजिक संबंधों के एक भाग संगठित संबंधों विशेषतः राजनीतिक संबंधों का अध्ययन करता है

(4) समाजशास्त्र विभिन्न संस्थाओं, जिनमें सरकार भी शामिल हैं, के परस्पर-संबंध पर जोर देता है जबकि राजनीतिशास्त्र सरकार के भीतर चलने वाली प्रक्रियाओं पर।

(5) राजनीतिशास्त्र का दृष्टिकोण एकांगी या एक पक्षीय है जबकि समाजशास्त्र का दृष्टिकोण समग्र अथवा समष्टिमूलक है। इस भांति राजनीतिशास्त्र का दृष्टिकोण संकुचित है जबकि समाजशास्त्र का व्यापक।

(6) समाजशास्त्र सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक सभी प्रकार के साधनों के अध्ययन में, जबकि राजनीतिशास्त्र उन औपचारिक साधनों के अध्ययन में जिन्हें राज्य की अभिमति प्राप्त है, जैसे कानून में रूचि रखता है।

(7) समाजशास्त्र राज्य को महत्वपूर्ण सामाजिक संस्थाओं में से एक मानता है जबकि राजनीतिशास्त्र राज्य को समुदाय संचालित करने वाली सर्वोच्च शक्ति और राजनीतिक विधि का स्रोत मानता है।

(8) समाजशास्त्र एक व्यवहारात्मक विज्ञान है, परंतु राजनीतिशास्त्र व्यवहारात्मक विज्ञान की श्रेणी में नहीं आता। राजनीतिशास्त्र का ज्ञान केवल राजनीति के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है जबकि समाजशास्त्र का ज्ञान जीवन के सभी क्षेत्रों में उपयोगी सिद्ध होगा।

(9) दोनों शास्त्रों की अध्ययन-पद्धतियों में भी काफी अंतर पाया जाता है।

(10) समाज का विकास राज्य से पहले हुआ है और इस दृष्टि से समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र की तुलना में अधिक प्राचीन है।

बोध प्रश्न -2

1 जी.ई. हावर्ड के अनुसार 'इतिहास भूतकाल का ..... और समाजशास्त्र वर्तमान का'।

2 राजनीतिशास्त्र संगठित ..... का अध्ययन करता है।

3 समाजशास्त्र एक ..... विज्ञान है।

4 वर्तमान में सामाजिक मानवशास्त्र में प्रमुखत.....का प्रयोग किया जाता है।

3.8 सारांश

विभिन्न सामाजिक विज्ञान परस्पर निर्भर हैं। हर समाज विज्ञान सामाजिक घटना में अपने विशिष्ट पहलू का अध्ययन करता हैं। परंतु मानव के संपूर्ण अध्ययन के लिए यह पर्याप्त नहीं है यद्यपि उसे पूरी तरह समझने के लिए संपूर्ण अध्ययन की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। समाजशास्त्र इस दिशा में प्रयास करता है। लेकिन इस विषय की भी अपनी सीमाएं हैं। इसलिए यह केवल सामान्य अध्ययन से ही अपने को संतुष्ट कर लेता है। सभी सामाजिक विज्ञानों का विषय एक है लेकिन उनके दृष्टिकोण भिन्नता के कारण उनकी विषय सामग्री में अंतर आ जाता है। सामाजिक विज्ञानों के एकीकरण से ही किसी सामाजिक घटना का पूर्ण रूप से अध्ययन किया जा सकता है। यदि किसी घटना का गहन अध्ययन करना है तो यह आवश्यक होगा कि इसके विभिन्न पक्षों का अलग-अलग विद्वानों द्वारा अध्ययन किया जाए तथा अंत में इनका एकीकरण करके संपूर्ण के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाए। इस प्रकार 'सामाजिक विज्ञानों में एकता है, यह एकता काल्पनिक एकता नहीं है, यह विभिन्न भागों की एक गतिशील एकता है और एक भाग दूसरे भाग के लिए तथा अन्य भागों के लिए अनिवार्य है।'

अतः यह कहा जा सकता है कि समस्त सामाजिक विज्ञान एक-दूसरे पर निर्भर हैं। हर सामाजिक विज्ञान किसी घटना का विशिष्ट अध्ययन भी करता है और सामाजिक विज्ञानों के एकीकरण के द्वारा संपूर्ण अध्ययन करने का प्रयास भी किया जाता है।

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1. देखें 4.4

2. देखें 4.4

3. देखें 4.6

बोध प्रश्न-2

1 समाजशास्त्र व इतिहास

2 मानव संबंधों (राजनीतिक संबंधों)

3 व्यवहारात्मक

4 अर्द्ध-सहभागी अवलोकन पद्धति

3.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Bottomore, T.B., Sociology

2. Berger, Peter, Invitation to Sociology, Doubleday, New York, 1963.

3. Mills, C.k., Wright, Sociological Imagination, Oxford, New York, 1959.

4. Forands, Abraham, Sociological Thoughts, Macmillan India, Delhi, 1985.

3.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

- Berger, Peter, Invitation to Sociology, Doubleday, New York, 1963.
- Mills, C.k., Wright, Sociological Imagination, Oxford, New York, 1959.
- Forands, Abraham, Sociological Thoughts, Macmillan India, Delhi, 1985.

3.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.समाजशात्र और इतिहास के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए ?

2- समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में संबंध स्पष्ट कीजिए ?

3- समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए।

4. समाजशास्त्र और राजनीतिक शास्त्र के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए।

इकाई 4- समाज : अर्थ, विशेषताऐं, समाज एवं एक समाज, मानव एवं पशु समाज

(Society: meaning, Characteristics, Society and a Society, Human and Animal Society)

इकाई की रूपरेखा

4.0 प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 समाज का अर्थ व विशेषताएं

4.3 समाज की विशेषताएं

4.4 समाज और एक समाज

4.5 मानव और पशु समाज

4.6 सारांश

4.7 पारिभाषिक शब्दावली

4.8 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

4.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

मानव-समाज का सुव्यवस्थित रीति से वैज्ञानिक अध्ययन करना समाजशास्त्र का मुख्य विषय है। समाजशास्त्र जिस महत्त्वपूर्ण बिंदु के चारों ओर घूमता है, उसे 'समाज' कहते हैं। समाज को केवल मानव तक ही सीमित नहीं किया जा सकता है। यह कीड़े-मकोड़ों, पशु-पक्षियों तक फैला हुआ है। क्योंकि वे भी अपने जीवन को बेहद व्यवस्थित तरीके से जीते हैं। इस आधार पर यह कहना गलत नहीं होगा कि समाज हर उस जगह पर है जहां-जहां जीवन पाया जाता है। आज मानव-जाति विकास के कई चरणों को पार करके सभ्यता के उच्च-स्तर पर पहुँच गई है। अन्य जीव जगत से अलग मानव ने अनेक संस्थाओं को बनाकर ऐसे सूक्ष्म एवं कठिन सामाजिक संबंध विकसित किए जो कि, केवल मनुष्य द्वारा संभव है। इसी कारण हम समाजशास्त्र के अंतर्गत केवल मानव-समाज का ही अध्ययन और विवेचन करते हैं।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- समाज क्या है जान सकेंगे
- समाज की विशेषताओं के बारे में ज्ञान अर्जित कर सकेंगे

4.2 समाज का अर्थ एवं परिभाषा

साधारण बोलचाल की भाषा में 'समाज' शब्द को व्यक्तियों के समूह के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। हालांकि 'समाज' की कोई ऐसी परिभाषा अभी तक नहीं मिल पाई है जिसे सभी ने एक मत से मान लिया हो। विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा 'समाज' शब्द के कई अर्थ लगाए गए हैं। किसी के लिए 'समाज' व्यक्तियों का समूह है तो किसी के लिए समुदाय, किसी के लिए वह पूरी मानव-जाति भी रहा है। कोई समाज को अमूर्त मानता है तो कोई उसे मूर्त भी मानता है। अतः हम देख सकते हैं कि 'समाज' को अलग-अलग अर्थ देने के कारण इसकी कोई एक निश्चित परिभाषा नहीं मिल पाती है।

समाजशास्त्र के अंतर्गत 'समाज' शब्द का एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है। समाज एक ऐसी व्यवस्था है जिसका आधार व्यक्तियों के बीच में बनने वाले सामाजिक संबंध होते हैं। जब अनेक व्यक्तियों के बीच होने वाला व्यवहार अर्थपूर्ण हो तथा एक-दूसरे की क्रियाओं को प्रभावित करता हो तब यह अर्थपूर्ण व्यवहार 'सामाजिक-संबंध' को प्रकट करता है। जैसे अगर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ अपनी जैविक आवश्यकताओं को पूरा करने का उद्देश्य

से कोई क्रिया कर रहा है, जिसके कारण दोनों के बीच किसी तरह का कोई संबंध बन रहा हो तो यह सामाजिक संबंध कहा जाएगा।

सामाजिक संबंधों तथा भौतिक संबंधों के मध्य एक प्रमुख अंतर पाया जाता है -पारस्परिक जागरूकता। जहां भौतिक सम्बधों में पारस्परिक जागरूकता का अभाव होता है अर्थात एक वस्तु को दूसरी वस्तु के बारे में ज्ञान नहीं होता है, वहीं दूसरी ओर पारस्परिक जागरूकता सामाजिक संबंधों का प्रमुख आधार है। भौतिक संबंध भौतिक वस्तुओं में पाया जाता हैं जैसे-की-बोर्ड के जरिए सारी सूचनाएं कम्प्यूटर में डाली जाती हैं की-बोर्ड और कंप्यूटर के बीच भौतिक संबंध है, किंतु कंप्यूटर को की-बोर्ड के बारे में ज्ञान नहीं हैं।

सामाजिक संबंध का प्रमुख तत्व मानसिक संबंध है

सामाजिक संबंध सामाजिक अंतर्किया के द्वारा बनते हैं। सामाजिक अंतर्किया के तीन संभावित स्तर माने जाते हैं-

(क) व्यक्ति - व्यक्ति के बीच अंतर्किया

(ख) व्यक्ति - समूह के बीच अंतर्किया

(ग) समूह - समूह के बीच अंतर्किया

ऊपर लिखे तीनों स्तरों पर जब ऐसी क्रियाओं का आदान-प्रदान हो जो कि विभिन्न प्रकार के सामाजिक संबंधों के बनने का कारण बने तब यह पूरी प्रक्रिया 'समाज' कहलाती है।

जब अनेक व्यक्ति किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर पूरी तरह जागरूक दशा में, जानबूझकर सामाजिक क्रियाओं को करें तब यह क्रिया 'अर्थपूर्ण' कही जाती है। अर्थात् यदि दो व्यक्तियों के बीच कोई क्रिया अनजाने में हो जाए तो यह सामाजिक क्रिया नहीं कही जाएगी। जैसे यदि किसी व्यक्ति की टक्कर रास्ते में किसी कार से हो जाए तो व्यक्ति और कार चालक के बीच होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया को सामाजिक संबंध नहीं कहेंगे।

रियूटर ने समाज को अमूर्त मानते हुए कहा है - 'समाज एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले-पारस्परिक संबंधों की एक व्यवस्था है।'

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार - 'समाज रीतियों एवं कार्य-प्रणालियों, अधिसत्ता एवं पारस्परिक सहयोग, अनेक समूहों एवं विभाजनों, मानव-व्यवहार के नियंत्रणों एवं स्वतंत्रताओं की व्यवस्था है। यह सतत परिवर्तनशील जटिल व्यवस्था है जिसे हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक संबंधों का जाल है और यह निरंतर परिवर्तशील है''।

गिडिंग्स ने समाज को औपचारिक रूप से बने संबंधों का प्रतिफल बताते हुए कहा है 'समाज स्वयं संघ है, संगठन है, औपचारिक संबंधों का योग है, जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए या संबद्ध हैं।'

गिंसबर्ग ने समाज में व्यक्तियों के बीच व्यवहार की समानता को महत्त्व देते हुए समाज को इस प्रकार परिभाषित किया है -'ऐसे व्यक्तियों के समुदाय को समाज कहा जाता है जो कतिपय संबंधों या बर्ताव की विधियों द्वारा परस्पर एकीभूत हों। जो व्यक्ति इन संबंधों द्वारा संबद्ध नहीं होते या जिनके बर्ताव भिन्न होते हैं, वे समाज से पृथक् होते हैं"।

4.3 समाज की विशेषताएं

1- पारस्परिक जागरूकता - सामाजिक संबंधों का ताना-बाना ही समाज को बनाने में सहायक होता है। जब लोग एक-दूसरे को परोक्ष या अपरोक्ष रूप से जानते-पहचानते हैं तभी सामाजिक संबंध बनते हैं। व्यक्ति और प्रकृति, सूर्य और पृथ्वी, मनुष्य और किताब आदि के बीच पाए जाने वाले संबंध भौतिक होते हैं, जिनमें पारस्परिक जागरूकता नहीं पाई जाती है। जब जागरूकता नहीं होगी तो न यह एक दूसरे से प्रभावित होंगे और न उनमें कोई अंतर्किया होगी। अतः कह सकते हैं कि पारस्परिक जागरूकता सामाजिक-संबंधों को बनाने के लिए बहुत जरूरी है।

2- समानता एवं असमानता - समाज को बनाने हेतु समानता एवं असमानता, इन दोनों तत्त्वों का होना आवश्यक है।

(1) समानता - मैकाइवर और पेज ने समानता को समाज का आधार माना है। शारीरिक बनावट, उम्र या रंग की समानता नहीं बल्कि व्यक्तियों के विचारों, जीवन-मूल्यों और उद्देश्यों की समानता समाज की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। लोगों के बीच कोई संबंध जुड़ने के लिए उनके बीच कोई-न-कोई समानता का होना जरूरी है। उदाहरण के तौर पर एक परिवार के सभी सदस्यों के बीच विचारों या उद्देश्यों की समानता ही परिवार का मुख्य आधार होती है, इसके बिना परिवार का विघटन हो सकता है।

(2) समाज में असमानता - समाज में समानता और भिन्नता दोनों ही पाई जाती हैं। यह भिन्नता कई रूपों में दिखाई देती है जैसे व्यक्ति - व्यक्ति के बीच योग्यताओं, कार्यक्षमता, विचारों, इच्छाओं, आकांक्षाओं, शारीरिक-बनावट और लैंगिक-भिन्नता (स्त्री-पुरूष) का पाया जाना इसका प्रमाण है। इस असमानता के कारण समाज में श्रम-विभाजन और विशेषीकरण उत्पन्न होता है जो समाज की प्रगति में अपना योगदान देता है। भिन्न-भिन्न प्रकृति, योग्यता, क्षमता तथा विचार वाले लोगों के बीच लगातार होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा ही समाज का अस्तित्व बना रहता है।

3- समाज में सहयोग और संघर्ष - सहयोग और संघर्ष प्रत्येक समाज में सदैव चलने वाली प्रक्रियाओं के रूप में मिलते हैं।

(1) सहयोग - प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक जीवन सहयोग पर आधारित है।

(2) संघर्ष - यह भी समाज के लिए सहयोग के जितना ही महत्त्वपूर्ण है। अनेक लोगों के बीच शारीरिक एवं वैयक्तिक भिन्नताओं, सांस्कृतिक-भिन्नताओं, स्वार्थों के टकराने और तेजी से होने वाले सामाजिक परिवर्तनों के कारण 'संघर्ष' उत्पन्न होता है। कार्ल-मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण माना है। आर्थिक-शोषण से मुक्ति पाने और सामाजिक अन्याय का विरोध करना एवं उसके लिए लड़ना, यह सब सामाजिक संघर्ष के द्वारा किया जाता है। सामाजिक संघर्ष हिंसक, और अहिंसक दोनों तरीकों से किया जा सकता है।

4- पारस्परिक निर्भरता - व्यक्ति को अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए दूसरे व्यक्तियों या समूहों की आवश्यकता होती है। इसके लिए व्यक्ति को अन्य के साथ अपनी आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सामाजिक संबंध विकसित करने होते हैं और जिसके लिए वह एक तरह उन पर निर्भर भी होता है। मानव-समाज में समानता, सौहार्द तथा भाई-चारे की भावना के पैदा होने का कारण 'पारस्परिक-निर्भरता' ही है। वर्तमान में जटिल समाजों के बनने बाद श्रम-विभाजन बढ़ गया है। जिसके कारण व्यक्तियों और समाज के अनेक अंगों के बीच एक-दूसरे पर निर्भर होने की प्रवृत्ति में भी और बढ़ोत्तरी हो गई है। जैसे विवाह समारोह की व्यवस्था करने के लिए परिवार को बैंकट हॉल, मंडप-निर्माण, भोज का आयोजन आदि अनेक कार्यों हेतु विभिन्न व्यक्तियों का सहयोग लेना पड़ता है, उन पर निर्भरता बढ़ती है।

5- समाज अमूर्त है - समाज केवल व्यक्तियों का समूह मात्र न होकर उनके बीच उत्पन्न सामाजिक संबंधों का एक जाल है। सामाजिक संबंधों को न तो आंखों द्वारा देखा जा सकता है, न उनका स्पर्श किया जा सकता है। वह तो निराकार हैं, अमूर्त हैं, इनको केवल अनुभव किया जा सकता है। विभिन्न अवसरों और परिस्थितियों में कैसा व्यवहार करना चाहिए यह हमें परिवार, गांव या शहर में रहकर अनुभव द्वारा ही समझ में आता है। सामाजिक संबंधों को मूर्त रूप में न देखकर उसे सामाजिक सदस्यों के बीच होने वाले व्यवहार और भावात्मक एकता द्वारा समझा जा सकता है।

6- समाज सतत् परिवर्तनशील है - समाज में व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले सामाजिक संबंध स्थिर नहीं रहते हैं, अनेकानेक कारणों के प्रभाव से उनमें परिवर्तन आता रहता है। परिवर्तन समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो कि बाहरी परिस्थितियों के बदलने पर और भी तेजी से होता है। समय बीतने के साथ जनसंख्या बढ़ती है जिससे लोगों की जरूरतें, इच्छाएं भी बढ़ती हैं। जरूरतें पुराने संबंधों को बदलकर नए सामाजिक संबंधों को बनाती हैं, जैसे कुछ साल पहले तक भारतीय समाज में पति-पत्नी के जो संबंध थे वह अब बदले स्वरूप में हैं। जहां पहले भारतीय नारी पति को परमेश्वर मानकर उसे पूजती थी, वहीं आज वह उसे अपने समान मनुष्य मानकर उसे जीवन-साथी मानती है।

जॉनसन द्वारा प्रदत्त समाज की विशेषताएं

आज समाजशास्त्र के अंतर्गत 'समाज' का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। आधुनिक समाजशास्त्रियों ने मैकाइवर और पेज द्वारा परिभाषित 'समाज सामाजिक संबंधों का जाल' को अस्वीकार कर दिया। क्योंकि सामाजिक

संबंध अमूर्त हैं। मैकाइवर और पेज की यह परिभाषा बहुत पुरानी हो गई है। आज समाजशास्त्र की परिभाषा मूर्त रूप में दी जा रही है। एच.एम. जॉनसन ने समाज को मूर्त रूप में परिभाषित करते हुए समाज का निर्माण चार तत्त्वों द्वारा माना है। यह चार तत्व इस प्रकार हैं:-

1- निश्चित - क्षेत्र

2- काम - प्रजनन

3- विस्तृत - संस्कृति

4- स्वतंत्रता

इन विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:-

1- निश्चित -क्षेत्र - जहां तक एक समाज-विशेष के सदस्य फैले हुए होते हैं, वहां तक समाज की सीमा होती है। जोकि प्रत्येक समाज का अपना एक निश्चित क्षेत्र होता है।

2- काम-प्रजनन - समाज की वृद्धि और उसके विकास के लिए नए-नए सदस्यों की आवश्यकता रहती है जोकि समाज की निरंतरता को बनाए रखने के लिए जरूरी भी है। यह निरंतरता प्रजनन के द्वारा संभव होती है। अतः प्रजनन एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक विशेषता है। इस प्रक्रिया के न होने पर समाज निश्चित रूप से जल्दी समाप्त हो जाएगा। समाज में नए सदस्यों का प्रवेश कई माध्यमों द्वारा किया जा सकता है जैसे उपनिवेशवाद, गोद लेने की प्रथा, सामान्य विस्तार और अप्रवासन। हालांकि यह ऐसे बड़े कारक नहीं हैं जो समाज को लंबे समय तक चलाते रह पाएं। इसके लिए प्रभावी तरीका प्रजनन ही है।

3-विस्तृत-संस्कृति- हर एक वृहत संस्कृति के अंतर्गत कुछ छोटी छोटी उपसंस्कृति होती हैं जैसे भारत में तमिल, पंजाबी , गुजराती संस्कृति इत्यादि जैसी कई उपसंस्कृति मौजूद हैं। ये सभी छोटी-छोटी संस्कृतियां वृहद संस्कृति की पूरक संस्कृति हैं।

4- स्वतंत्रता - समाज का अपना एक अलग और स्वतंत्र अस्तित्व होता है। यदि किसी राज्य के ऊपर दूसरे राज्य का अधिकार हो, राजनीतिक-आर्थिक नियंत्रण हो, तब भी समाज स्वतंत्र रह सकता है। जैसे जब भारत अंग्रेजों का एक उपनिवेश था, तब भी भारतीय समाज एक स्वतंत्र समाज ही था। यहां स्वतंत्रता का अर्थ 'आत्मनिर्भरता' से भी लिया गया है। समाज की संरचना इस प्रकार की होती है कि वह अपने-आप में पूर्ण होता है और उसके सदस्यों के लिए यह जरूरी नहीं होता कि वे समाज से बाहर जाकर अंतर्कियाकरें।

बोध प्रश्न-1

i) समाज अमूर्त है – सत्य /असत्य

.....

.....

4.4 समाज एवं एक समाज

सामान्य शब्दों में लोग समाज तथा एक समाज दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में करते है, किंतु समाजशास्त्र में इन दोनों शब्दों का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं अपितु दोनों में पर्याप्त अंतर पाया जाता है। समाज तो सामाजिक संबंधों का ताना बाना या जाल है। क्योंकि सामाजिक संबंध अमूर्त हैं अतः इन संबंधों के जाल द्वारा निर्मित समाज भी अमूर्त है। समाज शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया जाता है जबकि एक समाज शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट समाज के लिए किया जाता है, जिसकी निश्चित भौगोलिक सीमाएं है तथा जो अन्य समाजों से भिन्न है। उदाहरण के लिए- भारतीय समाजए अमेरिकी समाजए फ्रांसीसी समाज इत्यादि एक समाज के ही उदाहरण हैं-

रियूटर तथा जिंसबर्ग की एक समाज की परिभाषा से समाज एवं एक समाज में अंतर और अधिक स्पष्ट हो जाता है। रियूटर के अनुसार एक समाज पुरूषों, स्त्रियों तथा बच्चों का स्थायी तथा निरंतर चलने वाला समूह है जिसमें लोग स्वतंत्र रूप से सांस्कृतिक स्तर पर अपनी प्रजाति को जीवित एवं स्थायी रखने में समर्थ होते है। एक समाज में मनुष्य अपना सामान्य जीवन व्यतीत करता है।

जिंसबर्ग के अनुसार एक समाज व्यक्तियों का वह समूह है जो किन्हीं संबंधों अथवा व्यवहारों के तरीकों द्वारा संगठित है और जो उन व्यक्तियों से भिन्न है जो इन संबंधों से नहीं बंधे हैं अथवा जो उनसे भिन्न व्यवहार करते हैं।

सभी एक समाज एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। प्रत्येक एक समाज के एक मूल्य, आदर्श तथा कार्यपद्धति होती है। एक समाज का एक और आवश्यक तत्व है- निश्चित भू-भाग जिसके कारण समानता की भावना का जन्म होता है। समाज तथा एक समाज में निम्नलिखित अंतर पाए जाते हैं-

1. समाज सामाजिक संबंधों का जाल है जिसमें सामाजिक संबंधों की संपूर्ण व्यवस्था पाई जाती है जबकि एक समाज व्यक्तियों का समूह है जिसमें संबंध विशेषीकृत होते हैं ।

2. समाज संबंधों का जाल होने के कारण अमूर्त है, जबकि एक समाज व्यक्तियों का समूह होने के नाते मूर्त है।

3. समाज शब्द का प्रयोग विस्तृत क्षेत्र के लिए होता है तथा यह एक समाज से जटिल होता है, जबकि एक समाज का प्रयोग सीमित क्षेत्र के लिए होता है तथा यह अपेक्षाकृत सरल संगठन होता है।

4. समाज के सदस्यों में व्यवहारों, मनोवृत्तियों और क्रियाओं का एक होना आवश्यक नहीं वरन् इनमें भिन्नता पाई जाती है। एक समाज के सदस्यों में समानता का कुछ न कुछ होना आवश्यक है, अन्यथा एक समाज का अस्तित्व ही नहीं होगा।

5. समाज को भौगोलिक सीमाओं के अंतर्गत नहीं बांधा जा सकता। इसके विपरीत एक समाज को भौगोलिक सीमाओं के अंतर्गत बांधा जा सकता है।

6. समाज बहुसांस्कृतिक होता है अर्थात् उसमें एक ही समय पर एक से अधिक संस्कृतियां विद्यमान होती हैं। इसके विपरीत एक समाज में प्रायः एक ही संस्कृति विद्यमान होती है।

बोध प्रश्न -2

i)समाज और एक समाज के बीच चार पंक्तियों में अंतर स्पष्ट कीजिए

.....

.....

.....

.....

.....

ii)समाज के अर्थ को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

4.5 मानव एवं पशु समाज

मनुष्य समाज में रहते है परंतु यह तथ्य अत्यंत महत्वपूर्ण है कि समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है, अपितु पशुओं में भी समाज पाया जाता है। अनगिनत अन्य जीव जैसे चींटिया दीमक, मधुमक्खी, बंदर, लंगूर आदि में भी समाज पाया जाता है। विकास के जीवशास्त्रीय सिद्धांतके अनुसार मानव का विकास निम्न जीवधारियों में क्रमिक परिवर्तन से हुआ है। परंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मानव तथा पशु समाज एक ही है। मानव और पशु समाज में अत्यधिक अंतर पाया जाता है। मानव समाज को पशु समाज से भिन्न करने वाला सबसे प्रमुख आधार संस्कृति है। संस्कृति मानव समाज को एक अनुपम समाज बना देती है, जबकि पशु समाज में संस्कृति नहीं पाई जाती।

प्रत्येक समाज को चाहे वह मानव समाज है या पशु समाज अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए कुछ अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है। आवश्यकता से तात्पर्य समाज के अस्तित्व की अनिवार्य दशाओं से है। समाज को प्रत्येक वस्तु की भांति अपने अस्तित्व के लिए कुछ दशाओं की आवश्यकता होती है। इन आवश्कताओं की रूपरेखा किंग्सले डेविस ने निम्नलिखित प्रकार से दी है-

1. जनसंख्या का प्रतिपालन

अ पोषण का प्रबंध

ब क्षति के विरूद्ध संरक्षण तथा

स नए जीवों का पुनरूत्थान

2. जनसंख्या के बीच कार्य विभाजन

3. समूह का संगठन

अ सदस्यों के बीच संपर्क की प्रेरणा

ब पारस्परिक सहिष्णुता की प्रेरणा

4. सामाजिक व्यवस्था की निरंतरता

4.6 सारांश

हम सब लोग समाज में रहते हैं, समाज के बिना हमारा जीवन संभव नहीं इसलिए यह भी कहा जाता है कि जहां जीवन है, वहां समाज भी है , वास्तव में व्यक्ति एक दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं इनमें ही समूहों एवं समाज का निर्माण होता है समाज का अध्ययन होने के नाते समाज समाजशास्त्र की सर्वाधिक प्रमुख एवं प्राथमिक अवधारणा मानी जाती है

4.7 पारिभाषिक शव्दावली

समाज- सामाजिक संबंधों के ताने –बाने को समाज कहते हैं

एक समाज- वह शब्द जिसका प्रयोग ,किसी विशिष्ट समाज के लिए किया जाता है

4.8 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न-1

i) सत्य

बोध प्रश्न -2

उत्तर के लिए देखिए 5.4

उत्तर के लिए देखिए 5.2

4.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Bottomore, T.B., Sociology

2. Berger, Peter, Invitation to Sociology, Doubleday, New York, 1963.

3. Mills, C.k., Wright, Sociological Imagination, Oxford, New York, 1959.

4. Forands, Abraham, Sociological Thoughts, Macmillan India, Delhi, 1985.

5. पी0 एच0 प्रभु: हिंदू समाज की व्यवस्था

6. राम अहूजा: भारतीय समाज

4.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

बोस, एन. के. , 1967, कल्चर एंड सोसाइटी इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई।

दोषी व जैन, 2009, भारतीय समाज-संरचना एवं परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

पी0 एच0 प्रभु: हिंदू समाज की व्यवस्था

राम अहूजा: भारतीय समाज

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.समाज क्या है 'समाज' एवं 'एक समाज' में अंतर स्पष्ट कीजिए?

2- समाज का अर्थ एवं विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

3. समाज एवं पशु समाज में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

इकाई-5 समुदाय, अर्थ एवं विशेषताएं
(Community: meaning & Characteristics)

इकाई की रूपरेखा

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 समुदाय-अर्थ व परिभाषा

5.3 समुदाय के आधार

5.3.1 सामुदायिक भावना के आवश्यक तत्व

5.4 समुदाय की प्रमुख विशेषताएं

5.4.1 सीमावर्ती समुदायों के कुछ उदाहरण

5.5 सारांश

5.6 पारिभाषिक शब्दावली

5.7 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

5.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

5.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.10 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

व्यक्ति समुदाय में रहकर ही अपना सामान्य जीवन व्यतीत करता है। उदाहरण के लिए हम जिस गांव या नगर में रहते हैं। वह समुदाय ही है। सामान्य शब्दों में व्यक्तियों के किसी भी संगठन को समुदाय कह दिया जाता है। परंतु यह

ठीक नहीं है। समाजशास्त्र में समुदाय शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। केवल व्यक्तियों का समूह ही समुदाय नहीं है। यह व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जोकि किसी निश्चित भू-भाग पर निवास करते हैं। समुदाय में न केवल सदस्यों का सामान्य जीवन व्यतीत होता है,अपितु उनमें समुदायिक भावना भी पाई जाती है। यह भावना समुदाय को समिति से भिन्न करती है। समुदाय के बारे मे बोगाडर्स कहते हैं कि 'समुदाय का विचार पड़ोस से आरंभ होकर संपूर्ण विश्व तक पहुंच जाता है' उदहारण के लिए बचपन मैं एक बच्चा जब पड़ोस के साथियों के साथ खेलता है और दूसरे क्षेत्र के बच्चे के विरुद्ध अपने आप को संगठित करता है तब पड़ोस ही उसका समुदाय बन जाता है अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जब गांव के दूसरे हिस्से पर भी निर्भर होने लगता है तब पूरा गांव उसका समुदाय बन जाता है

समाजशास्त्र के क्षेत्र में समुदाय की अवधारणा के विकास में टॉनिज, दुर्खीम, लुईस वर्थ, रॉबर्ट रेडफील्ड और मेकाइवर का योगदान उल्लेखनीय है। मनुष्य किसी न किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है। किसी भी एक समुदाय में जीवन बिताया जा सकता है इस दृष्टिकोण से आवश्यक है की समुदाय की विस्तारपूर्वक विवेचना की जाए

5.1 उद्देश्य

समुदाय, समूह, समिति एवं संस्था की अवधारणाएं समाजशास्त्र की मूल अथवा प्राथमिक अवधारणाएं मानी जाती हैं जिनको समझे बिना इस विषय का ज्ञान अधूरा माना जाता है। इस इकाई का उद्देश्य समुदाय की अवधारणाओं को समझाना है।

5.2 समुदाय का अर्थ व परिभाषा

शाब्दिक दृष्टिकोण से समुदाय अंग्रेजी के community का रूपांतरण है community शब्द लेटिन भाषा के दो शब्द 'Com' तथा ' Munis' से मिलकर बना है Com का अर्थ है साथ-साथ तथा Munis का अर्थ है सेवा करना इस प्रकार एक साथ मिलकर काम करने वाले व्यक्तियों के समूह को समुदाय कहा जा सकता है। किसी भी अवधारणा को उदहारण के माध्यम से सरलता से समझा जा सकता है । समुदाय का प्रयोग हम किसी बस्ती, गांव, शहर, जनजाति के लिए करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब एक विशेष क्षेत्र में रहने वाले लोग एक दूसरे से किसी स्वार्थ के कारण संबंधित नहीं होते बल्कि उसी क्षेत्र में अपना सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं, तब लोगों के इस छोटे या बड़े समूह को समुदाय कहा जाता है।

किंग्सले डेविस के अनुसार, "समुदाय वह सबसे छोटा क्षेत्रीय समूह है जिसके अंदर सामाजिक जीवन के समस्त पहलू आ जाते हैं।"

बोगॉर्ड्स का कथन है कि "समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें कुछ सीमा तक हम की भावना होती है तथा जो एक निश्चित क्षेत्र में निवास करते हैं।"

लिंडमेन ने समुदाय के संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक दोनों पहलुओं पर जोर दिया है वे लिखते हैं:

यदि हम समुदाय के स्पष्ट तत्वों की परिभाषा दें तो यह एक जागरूकता से बनाया गया संघ है जो कि एक निश्चित क्षेत्र या बस्ती में रहता है। इसके पास सीमित राजनीतिक अधिकार होता है और यह सामाजिक संस्थाओं जैसे स्कूल, मंदिर, गिरजाघर आदि पर देखरेख रखता है।

समुदाय के प्रकार्यात्मक पहलुओं का उल्लेख करते हुए लिंडमेन आगे लिखते हैं:

यदि हम मनुष्य के अस्पष्ट तत्वों की परिभाषा दें तो यह सामाजिक अंतर्कियाओं की एक प्रक्रिया है जो कि अधिक गहरी या विस्तृत धारणाओं को पैदा करती है, जिसमें पारस्परिक निर्भरता (सहकारिता) सहयोग और एकीकरण होते हैं। उपरोक्त परिभाषाओं से समुदाय के संबंध में दो तथ्य बहुत स्पष्ट हैं:

1. समुदाय व्यक्तियों का एक संगठन है जो कि एक निश्चित भू-भाग में स्थित होता है।

2. अस्पष्ट रूप से समुदाय सामाजिक अंतर्कियाओं – सहयोग, संघर्ष, संपर्क आदि की एक प्रक्रिया है। यह समुदाय का क्रियात्मक रूप है।

समुदाय की व्याख्या लिंडमेन के अतिरिक्त कई अन्य समाजशास्त्रियों ने भी की है। उदाहरण के लिए ऑर्गबर्न एवं निमकॉफ ने समुदाय को एक 'सीमित क्षेत्र में सामाजिक जीवन के संपूर्ण संगठन' से परिभाषित किया है। मेंजर ने समुदाय की परिभाषा में भू-भाग पर अधिक जोर दिया है। वह समाज जो किसी निश्चित भौगोलिक स्थान पर रहता है, समुदाय कहा जाता है। इस तरह समुदाय में जहां लोग एक निश्चित भू-भाग में रहते हैं वहीं उनमें कुछ निश्चित सामाजिक प्रक्रियाएं और संस्थाएं भी होती हैं। समुदाय जहां एक संरचना है वहीं एक प्रक्रिया भी है।

ग्रीन के अनुसार "समुदाय व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो एक छोटे क्षेत्रीय घेरे में रहता है तथा जिसके सदस्यो के जीवन का एक सामान्य ढंग होता है।"

5.3 समुदाय के आधार या तत्व

मैकाइवर एवं पेज ने समुदाय के निम्नलिखित दो आवश्यक तत्व बताए हैं-

1. **स्थानीय क्षेत्र** - समुदाय के लिए एक अत्यंत आवश्यक तत्व निवास-स्थान या स्थानीय क्षेत्र का होना है। उसकी अनुपस्थिति में समुदाय जन्म नहीं ले सकता। क्षेत्र में निश्चितता होने के कारण ही वहां रहने वाले सदस्यों के मध्य घनिष्टता, सहनशीलता तथा सामंजस्यता की भावना जाग्रत होती है।

2. **सामुदायिक भावना** - सामुदायिक भावना की अनुपस्थिति में समुदाय की कल्पना ही नहीं की जा सकती। सामुदायिक भावना को हम की भावना भी कहा जाता है। इस भावना का जन्म होने के कारण एक निश्चित क्षेत्र के सदस्यों के कार्य करने का सामान्य ढंग तथा प्रत्येक सदस्य का एक दूसरे का सुख व दुख से परिचित होना है। दूसरे की खुशी उनकी खुशी व दूसरे का दुख उनका स्वयं का दुख होता है। वे अनुभव करते हैं कि हम एक हैं। वस्तुतः यह एक ऐसी भावना है जो समुदाय के दूर चले जाने के बाद भी बनी रहती है।

किंग्सले डेविस ने भी समुदाय के दो आधारभूत तत्वों का विवेचन किया है-

1. **प्रादेशिक निकटता** - सदैव ही कुछ स्थानों पर आवासों के समूह पाए जाते हैं, किसी दूसरे समूह के व्यक्तियों की तुलना में व्यक्ति अपने समूह में ही अंतर्क्रिया करना सरल समझते हैं। निकटता संपर्क को सुगम बनाती है। यह सुरक्षा की भावना भी प्रदान करती है तथा समूह के संगठन को सुविधाजनक बनाती है। बिना प्रादेशिक निकटता के किसी भी समुदाय की कल्पना नहीं की जा सकती है।

2. **सामाजिक पूर्णता** - डेविस के अनुसार समुदाय सबसे छोटा प्रादेशिक समूह है। यह सामाजिक जीवन के समस्त पहलुओं का आलिंगन करता है। यह उन समस्त विस्तृत संस्थाओं, समस्त दलों तथा रूचियों को सम्मिलित करता है जो समाज का निर्माण करती हैं। व्यक्ति अपना अधिकांश सामाजिक जीवन समुदाय में ही व्यतीत करता है।

5.3.1 सामुदायिक भावना के आवश्यक तत्व -

सामुदायिक भावना के प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं-

1. **हम की भावना** - यह सामुदायिक भावना का प्रमुख अंग है। इस भावना के अंतर्गत सदस्यों में "मैं" की भावना नहीं रहती है। लोग मानते हैं कि यह हमारा समुदाय है, हमारी भलाई इसी में है या यह हमारा दुःख है। सोचने तथा कार्य करने में भी हम की भावना स्पष्ट दिखाई देती

है। इसके कारण सदस्य एक दूसरे से अपने को बहुत समीप मानते हैं। इसी भावना के आधार पर कुछ वस्तुओं स्थानों व व्यक्तियों को अपना माना जाता है व उनके साथ विशेष लगाव रहता है। यह भावना सामान्य भौगोलिक क्षेत्र में लंबी अवधि तक निवास करने के कारण विकसित होती है।

2. **दायित्व की भावना -** सदस्य समुदाय के कार्यों को करना अपना दायित्व समझते हैं। वे अनुभव करते हैं कि समुदाय के लिए कार्यों को करना, उनमें हिस्सा लेना, दूसरे सदस्यों की सहायता करना आदि उनका कर्तव्य एवं दायित्व है। इस प्रकार सदस्य समुदाय के कार्यों में योगदान की भावना रखते हैं।

3. **निर्भरता की भावना** - समुदाय के प्रत्येक सदस्य के अस्तित्व को स्वीकार करता है। वह स्वीकार करता है कि वह दूसरे सदस्यों पर निर्भर करता है। सदस्य का स्वयं का अस्तित्व समुदाय में पूर्णतः मिल जाता है। यह बिना समुदाय के अपना अस्तित्व नहीं समझता है। अन्य सब्दों में सदस्य समुदाय पर ही निर्भर रहता है।

5.4 समुदाय की प्रमुख विशेषताएं

समुदाय की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. **व्यक्तियों का समूह** - समुदाय निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों का मूर्त समूह है। समुदाय का निर्माण एक व्यक्ति से नहीं हो सकता अपितु समुदाय के लिए व्यक्तियों का समूह होना आवश्यक है।

2. **सामान्य जीवन -** प्रत्येक समुदाय में रहने वाले सदस्यों का रहन-सहन भोजन का ढंग व धर्म सभी काफी सीमा तक सामान्य होते है। समुदाय का कोई विशिष्ट लक्ष्य नहीं होता है। समुदाय के सदस्य अपना सामान्य जीवन समुदाय में ही व्यतीत करते हैं।

3. **सामान्य नियम -** जिंसबर्ग ने इस समुदाय की प्रमुख विशेषता माना है। समुदाय के समस्त सदस्यों के व्यवहार सामान्य नियमों द्वारा नियंत्रित होते हैं। जब सभी व्यक्ति सामान्य नियमों के अंतर्गत कार्य करते हैं तब उनमें समानता की भावना का विकास होता है। यह भावना समुदाय में पारस्परिक सहयोग की वृद्धि करती है।

4. **विशिष्ट नाम -** प्रत्येक समुदाय का कोई न कोई नाम अवश्य होता है। इसी नाम के कारण ही समुदायिक एकता का जन्म होता है। समुदाय का नाम ही व्यक्तियों में अपनेपन की भावना को प्रोत्साहित करता है।

5. **स्थायित्व** - समुदाय चिरस्थायी होता है। इसकी अवधि व्यक्ति के जीवन में लंबी होती है। व्यक्ति समुदाय में जन्म लेते हैं, आते हैं तथा चले जाते हैं, परंतु इसके बावजूद समुदाय का अस्तित्व बना रहता है। इसी कारण यह स्थायी संस्था है।

6. स्वतः जन्म - समुदाय को विचारपूर्वक किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति हेतु निर्मित नहीं किया जाता है। इसका स्वतः विकास होता है। जब कुछ लोग एक स्थान पर रहने लगते हैं तो अपनेपन की भावना का जन्म होता है। इससे समुदाय के विकास में सहायता मिलती है।

7. निश्चित भौगोलिक क्षेत्र - समुदाय का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समुदाय के सभी सदस्य निश्चित भौगोलिक सीमाओं के अंतर्गत ही विकास करते हैं।

8. **अनिवार्य सदस्यता** - समुदाय की सदस्यता अनिवार्य होती है। यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं करती। व्यक्ति जन्म से ही उस समुदाय का सदस्य बन जाता है। जिसमें उसका जन्म हुआ है। सामान्य जीवन के कारण समुदाय से पृथक् रहकर व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती है।

9. **सामुदायिक भावना** -सामुदायिक भावना ही समुदाय की नींव है। समुदाय के सदस्य अपने हितों की पूर्ति के लिए ही नहीं सोचते। वे संपूर्ण समुदाय का ध्यान रखते हैं। हम की भावना, दायित्व तथा निर्भरता की भावना है जोकि सामुदायिक भावना के तीन तत्व है, समुदाय के सभी सदस्यों को एक सूत्र में बांधने में सहायता देता है।

10. **आत्म निर्भरता** - सामान्य जीवन व आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण समुदाय में आत्म निर्भरता पाई जाती है। प्राचीन समाजों में समुदाय काफी सीमा तक आत्म निर्भर थे, परंतु आज यह विशेषता प्रायः समाप्त हो गई है।

बोध प्रश्न-1

i) किसी एक परिभाषा की सहायता से समुदाय की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए?

.....

.....

.....

.....

.....

ii) समुदाय की किन्हीं दो प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए?

.....

.....

.....

.....

5.4.1 सीमावर्ती समुदायों के कुछ उदाहरण -

गांव, कस्बा, कोई नई बस्ती, नगर, राष्ट्र एवं राजनीति के क्षेत्र जो कि एक निश्चित क्षेत्र में निवास करती है इत्यादि समुदाय के प्रमुख उदाहरण हैं। इनमें समुदाय के लगभग सभी आधारभूत तत्व तथा विशेषताएं पाई जाती हैं। परंतु कुछ ऐसे समूह अथवा संगठन भी हैं, जिनमें समुदाय की कुछ विशेषताएं तो पायी जाती है परन्तु कुछ नहीं। ऐसे समूहों को सीमावर्ती समुदायों की संज्ञा दी जाती है। समुदाय की कुछ विशेषताएं न होने के कारण इन्हें पूरी तरह समुदाय नहीं माना जा सकता है। जाति, जेल, पड़ोस तथा राज्य सीमावर्ती समुदायों के उदाहरण हैं। ये समुदाय तो नहीं है परंतु समुदाय की कुछ विशेषताओं का इनमें समावेश होने के कारण इनके समुदाय होने का भ्रम उत्पन्न होता है। अब हम ऐसे सीमावर्ती समुदायों पर विचार करें।

1. **क्या जाति एक समुदाय है?**- जाति व्यवस्था भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख स्वरूप है। जाति एक अंतर्विवाही समूह है। इसकी सदस्यता जन्म द्वारा निर्धारित होती है। विभिन्न जातियों की स्थिति एक समान नहीं होती। इनमें ऊंच नीच का एक स्वीकृत क्रम होता है। इनमें एक जाति द्वारा दूसरी जाति से संपर्क की स्थापना को स्पर्श, सहयोग, भोजन, निवास आदि के प्रतिबंधों द्वारा बहुत सीमित कर दिया जाता है। परंतु जाति में प्रत्येक समुदाय की विशेषताएं जैसे अनिवार्य सदस्यता आदि होने के बावजूद इसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। जाति का कोई निश्चित भौगोलिक क्षेत्र नहीं होता अर्थात एक ही जाति के सदस्य एक स्थान पर नहीं रहते अपितु अनेक क्षेत्रों व प्रदेशों में रहते हैं। उसमें सामुदायिक भावना का भी अभाव पाया जाता है। निश्चित भौगोलिक क्षेत्र न होने के कारण इसमें व्यक्तियों का सामान्य जीवन भी व्यतीत नहीं होता है। अतः जाति को एक समुदाय नहीं कहा जा सकता है।

2. **क्या पड़ोस एक समुदाय है?** -आज पड़ोस समुदाय नहीं है। पहले पड़ोस में हम की भावना, आश्रितता की भावना इत्यादि समुदाय के लक्षण पाए जाते थे। इसीलिए कुछ विद्वान पड़ोस को एक समुदाय मानते थे। परंतु आज जटिल समाजों में अथवा नगर राज्य प्रकृति वाले समाजों में पड़ोस समुदाय नहीं है। इसमें न ही तो सामुदायिक भावना

पाई जाती है, न ही सामान्य नियमों की कोई व्यवस्था ही। पड़ोस का विकास भी समुदाय की भांति स्वतः नहीं होता है। अत्यधिक गतिशीलता के कारण पड़ोस में रहने वालों में स्थायीपन का अभाव भी पाया जाता है।

3. **क्या जेल समुदाय है? -** जेल बंदीग्रह को भी समुदाय की अपेक्षा सीमावर्ती समुदाय का उदाहरण माना जाता है। जेल में समुदाय के अनेक लक्षण पाए जाते है। यह व्यक्तियों का समूह है। इसका एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है, इसके सदस्यों में कुछ सीमा तक हम की भावना पाई जाती है। इसमें रहने के कुछ सर्वमान्य नियम होते हैं तथा इसका एक विषिष्ट नाम होता है। मैकाइवर एवं पेज ने जेल का समुदाय कहा है क्योंकि यह बिहार तथा आश्रम जैसे अन्य समूह प्रादेशिक आधार पर बने होते हैं। वास्तव में ये सामाजिक जीवन के क्षेत्र ही हैं। उन्होंने जेल में कार्यकलापों के सीमित क्षेत्र के तर्क को अस्वीकार कर दिया क्योंकि मानवीय कार्यकलाप ही सदैव समुदाय के प्रकृति के अनुरूप परिणाम होते है। परंतु जेल को समुदाय नहीं माना जा सकता-एक तो कैदियों का इसमें सामान्य जीवन व्यतीत नहीं होता अर्थात् वे सामान्य जीवन में भागीदार नहीं होते हैं। दूसरे, उनमें सामुदायिक भावना का भी अभाव पाया जाता है। तीसरे, जेल का विकास भी स्वतः नहीं होता है। अतः जेल एक समुदाय नहीं है।

4. **क्या राज्य एक समुदाय है?** -राज्य भी व्यक्तियों का समूह है। इसमें समुदाय के अनेक अन्य लक्षण जैसे विशिष्ट नाम निष्चित भौगोलिक क्षेत्र, मूर्त समूह, निमयों की व्यवस्था इत्यादि पाए जाते है। परन्तु राज्य को समुदाय नहीं माना जा सकता है। समुदाय के विपरीत, राज्य के निश्चित उददेश्य होते हैं। राज्य निश्चित उदेश्यो की पूर्ति के लिए बनाया गया समूह है, न कि सामान्य व सर्वमान्य उददेश्यों की पूर्ति के लिए। साथ ही, इसका विकास स्वतः नहीं होता अपितु यह व्यक्तियों के चेतन प्रयासों का परिणाम है।

जाति, पडोस, जेल, बंदीग्रह तथा राज्य की तरह राजनीति दल, धार्मिक संघ, क्लब परिवार इत्यादि भी सीमावर्ती समुदाय के उदाहरण हैं। ये समुदाय तो नहीं हैं परंतु कुछ विशेषताओं के कारण इनके समुदाय होने का भ्रम उत्पन्न होता है। गांव, नगर, शरणार्थियों के कैम्प, जनजाति तथा खानाबदोशी झुण्ड सीमावर्ती समुदाय के प्रमुख उदाहरण माने जाते हैं क्योंकि इनमें समुदाय के आधारभूत तत्व एवं प्रमुख विशेषताएं पाई जाती है।

5.5 सारांश

समाज व्यक्तियों का संकलन मात्र नहीं है, यह व्यक्तियों में पाए जाने वाले पारस्परिक संबंधो का जाल है क्योंकि सामाजिक संबंध अमूर्त है अत: समाज को भी अमूर्त माना गया है। समुदाय एक ऐसा समूह है जोकि किसी निश्चित भोगोलिक सीमाओं में निवास करता है इसके सदस्यों में सामुदायिक भावना पाए जाती है। समूह में अनेक समूह होते हैं। समाजशास्त्र में समुदाय शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। केवल व्यक्तियों का समूह ही समुदाय नहीं है। यह व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है। जोकि किसी निश्चित भू-भाग पर निवास करते हैं। समुदाय में न केवल सदस्यों

का सामान्य जीवन व्यतीत होता है,अपितु उनमें समुदायिक भावना भी पाई जाती है। यह भावना समुदाय को समिति से भिन्न करती है।

5.6 पारिभाषिक शब्दावली

समुदाय- किसी सीमित क्षेत्र के अंदर रहने वाले सामाजिक जीवन के संपूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है

5.7 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

i) उत्तर के लिए देखिए 6.2

ii) उत्तर के लिए देखिए 6.4

5.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

Bottomore, T.B., Sociology : A Guide to Problems & Literature, London:Allen & Unwin, 1969.

Bogardus, E.S., Introduction to Sociology, Los Angeles: University of Southern California Press, 1917

Cooley, C.H., Social Organization, Glencoe:The Free Press, 1962

Davis, Kingsley, Human Society, New York:MacMillan Company,1949

Fairchild, H.P.(ed), Dictionary of Sociology,London:Vision,1958

5.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Cooley, C.H.,Social Organization, Glencoe :The Free Press, 1962

Davis,Kingsley, Human Society, New York:MacMillan Company,1949

Fairchild, H.P.(ed), Dictionary of Sociology,London:Vision,1958

5.10 निबंधात्मक प्रश्न

i) समुदाय की परिभाषा दीजिए समुदाय की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए?

ii) जाति को एक समुदाय क्यों नहीं कहा जा सकता विवेचना कीजिए?

इकाई-6 प्रस्थिति की अवधारणा: अर्थ, विशेषताऐं, आधार एवं प्रकार

Concept of Status: Meaning, Characteristics, Basis and Types

इकाई की रूपरेखा

6.0 प्रस्तावना

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्थिति की अवधारणा, परिभाषा और अर्थ

6.3 प्रस्थिति की विशेषताएं

6.4 प्रस्थिति के प्रकार

6.5 प्रस्थिति का आधार

6.6 प्रदत्त व अर्जित प्रस्थिति में अंतर

6.7 सारांश

6.8 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

6.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

6.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.11 निबंधात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

समाज की व्याख्या करते ही जो बात सबसे पहले ध्यान आती है वह है समाज का आधार अर्थात सामाजिक संबंध। सामाजिक संबंधों को अनेक प्रकार से वर्णित किया गया है। ये संबंध क्रमशः माता-पिता का संबंध, वैवाहिक, मित्र, पड़ौस, भाईचारा आदि और इसी तरह के अनेक संबंध सामाजिक संबंधों के व्यापक स्वरूपों को प्रस्तुत करते हैं। समाजशास्त्री मुख्य रूप से इन्हीं संबंधों की व्याख्या अनेक प्रकार से करते हैं। जब हम सामाजिक संबंधों की यथार्थता को समझने का प्रयास करते हैं तो इसके दो आयामों को जानने में हमारी विशेष रुचि होती है, वे प्रस्थिति और भूमिका हैं।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- प्रस्थिति की अवधारणा ,परिभाषा और अर्थ को समझ सकेंगे।
- प्रस्थिति की विशेषताएं का वर्णन कर सकेंगे।
- प्रस्थिति के प्रकार की व्याख्या कर सकेंगे।
- प्रस्थिति का वर्गीकरण कर सकेंगे।
- प्रदत्त व अर्जित प्रस्थिति में अंतर को स्पष्ट कर सकेंगे।

6.2 प्रस्थिति की अवधारणा,परिभाषा और अर्थ

एक व्यक्ति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अनेक पदों पर रहकर अपना कार्य संपादित करता है ,उन्हीं के आधार पर समाज में उस व्यक्ति को एक विशेष पद एवं स्थान प्राप्त होता है । इसी पद को व्यक्ति की 'प्रस्थिति' कहते हैं। प्रस्थिति को समाज में कई नामों से जाना जाता है। आम तौर पर लोग जब प्रस्थिति का प्रयोग करते हैं तो उनका तात्पर्य सामाजिक पद से होता है। प्रत्येक पद के साथ एक या अनेक भूमिकाएं यानी प्रस्थितियां लगी हुई होती हैं। अतः व्यक्ति की प्रस्थिति के अनुरूप व्यक्ति अपनी कार्यों का निर्वहन करता है । यह पद जिसके अनुसार व्यक्ति अपनी कार्यों को संपादित करता है वह व्यक्ति की भूमिका कहलाती है। उदाहरण स्वरूप अध्यापक का पद एक प्रस्थिति है और इससे जुड़े हुए कार्यों का संपादन उसकी भूमिका है। तात्पर्य यह हुआ कि यदि समाज में कार्यों के संपादन हेतु किसी भूमिका यानी कार्य की आवश्यकता होती है तो इसके पीछे कोई न कोई प्रस्थिति या पद अवश्य होते हैं।

भूमिका एवं प्रस्थिति को हम निम्न परिभाषाओं के आधार पर समझ सकते हैं-

मेक्स वेबर ने वर्गों का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसमें उन्होंने प्रतिष्ठा समूह की चर्चा की है। इससे उनका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्रस्थिति का समाज या समूह द्वारा खुला और निर्भीक मूल्यांकन होता है। इसमें कुछ प्रस्थितियां समाज द्वारा ऊंची हैं और ठेला चलाने वाले मजदूर की प्रस्थिति निम्न। इसे ध्यान में रखते हुए किंबाल यंग लिखते हैं: प्रत्येक समाज तथा समूह में व्यक्ति को कुछ कार्यों को संपन्न करना होता है। इन कार्यों के साथ शक्ति और प्रतिष्ठा जुड़े होते हैं। शक्ति तथा प्रतिष्ठा की जिस मात्रा का हम प्रयोग करते हैं, वही उसकी प्रस्थिति है। किंबाल यंग जो एक सामाजिक मनोवैज्ञानिक हैं प्रस्थिति की व्याख्या विशुद्ध रूप में करते हैं। उनका कहना है कि प्रस्थिति के साथ में प्रतिष्ठा भी जुड़ी हुई होती है।

हेरी एम. जॉनसन का मत है कि ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक पद (प्रस्थिति) के दो अंग हैं: एक आभारों (भूमिका) से आवेष्ठित और दूसरा अधिकारों से आवेष्ठित। एक व्यक्ति सामाजिक पद को तब धारण करता है जब सामाजिक प्रणाली में उसके कुछ आभार (भूमिका) हो और तत्संबंधित कुछ अधिकार हों। सामाजिक पद के इन दो अंगों को हम उनकी भूमिका और प्रस्थिति कहेंगे। भूमिका आभारों को ज्ञापित करेगी और प्रस्थिति उसके अधिकारों को। जॉनसन और सभी समाजशास्त्री इस अर्थ में सामाजिक प्रस्थिति के साथ भूमिका को जोड़ते हैं।

राल्फ लिंटन ने प्रस्थिति की व्याख्या कुछ इसी प्रकार की है। उनका कहना है कि व्यक्ति को किसी एक निश्चित समय में समाज में जो स्थान दिया गया है, वह उसकी प्रस्थिति है। व्यापारी, अध्यापक, पिता, ग्राहक आदि प्रस्थितियां हैं। लिंटन इसकी परिभाषा इस तरह करते हैं: किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था में कोई व्यक्ति एक निर्दिष्ट समय में जो स्थान प्राप्त करता है, उस व्यवस्था के अनुसार वह उस प्रस्थिति की ओर संकेत करता है।

किंग्सले डेविस ने भी प्रस्थिति की परिभाषा दी है। उनका कहना है कि समाज में व्यक्तियों की कई आवश्यकताएं होती हैं। उदाहरण के लिए उसकी बुनियादी आवश्यकताओं में रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य हैं। इन बुनियादी आवश्यकताओं के अतिरिक्त ढेरों आवश्यकताएं और हैं और इन सबकी पूर्ति के लिए कई प्रस्थितियां होती हैं। डेविस इसी संदर्भ में प्रस्थिति की व्याख्या करते हुए लिखते हैं: प्रस्थिति किसी भी सामान्य संस्थागत व्यवस्था में किसी पद की भूमिका है, ऐसा पद जो समाज द्वारा स्वीकृत है और जिसका निर्माण स्वतः ही हुआ है व जो जनरीतियों और रूढ़ियों से संबद्ध है।

डेविस के अनुसार प्रस्थितियों का उदगम समाज की आवश्यकताओं से है। रूढ़िगत समाजों में तो प्रस्थिति व्यक्ति को परंपरा से मिलती है लेकिन औद्योगिक तथा पूंजीवादी समाजों में व्यक्ति स्वयं अपनी प्रस्थिति का वरण करता है।

6.3 प्रस्थिति की विशेषताएं

परिस्थिति की विशेषताओं को इन सन्दर्भों में समझा जाता है-

- **प्रस्थितियां समाज की आवश्यकताओं का परिणाम हैं**: ट्रोबियंड टापू में रहने वाले आदिवासी नावों में बैठकर मछलियों का शिकार करने जाते हैं। मेलिनोस्की बताते हैं कि इन आदिवासियों को समुद्र में कई खतरे उठाने पड़ते हैं। उन्हें डर लगता रहता है कि कभी भी समुद्र की तूफानी लहरें कहीं उनकी नाव को ही न निगल जाएं। इस भय से बचने के लिए वे उन जादूगरों की तलाश करते हैं जो किसी भी खतरे से बचने के लिए नाव को जादू-टोने से बांध दें। यहां समाज की आवश्यकता जादू-टोना करने वाले जादूगरों की प्रस्थिति को तैयार करना है। इसका अर्थ यह हुआ कि समाज में जितनी भी प्रस्थितियां हैं वे सब समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि समाज की आवश्यकताएं समय के फेरे के साथ समाप्त हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप उससे जुड़ी हुई प्रस्थिति भी इतिहास की वस्तु हो जाती है।
- **प्रस्थिति सापेक्षिक होती है**: अपने आप में किसी भी प्रस्थिति का कोई महत्व नहीं है। यह हमेशा सापेक्षिक होती है। सापेक्षिक इसलिए कि प्रस्थिति से जुड़े हुए कार्यों का संबंध समाज और उसके समूहों के साथ होता है। चिकित्सक की प्रस्थिति बीमारों से जुड़ी है। यदि बीमार नहीं हुए तो चिकित्सक किस मतलब का। अध्यापक की प्रस्थिति का महत्व कमजोर हो जाता है जब पढ़ने वाले विद्यार्थी नहीं होते। कोई भी प्रस्थिति अपने स्वयं में अर्थहीन है। उसका महत्व तभी बनता है जब उसके उपभोक्ता हों। किसी गांव में तीन सितारा होटल का महत्व अप्रासंगिक है, इसलिए कि गांव के लोग ऐसे होटल में खाने-पीने की आदत नहीं रखते। तथ्यपूर्ण बात यह है कि कोई भी प्रस्थिति तभी महत्वपूर्ण होती है, जब उससे जुड़े हुए कार्य (भूमिका) अन्य प्रस्थितियों के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। इसी अर्थ में प्रस्थिति की विशेषता सापेक्षिक है।
- **प्रस्थिति समाज के स्तरीकरण की द्योतक है**: यह सामान्य बात है कि जिन समाजों में श्रम विभाजन बहुत सामान्य होता है, उनमें प्रस्थितियां न्यूनतम होती हैं। नगर जितना महानगर होगा, शहर जितना औद्योगिक और पूंजीवादी होगा, प्रस्थितियां उतनी ही अधिक होंगी। यह महानगरों में ही है कि चिकित्सा के क्षेत्र में अनेकानेक विशिष्ट चिकित्सक होते हैं। कोई चिकित्सक कान, नाक, गले का विशिष्ट चिकित्सक है। कोई दिल का और कोई आंखों या हड्डियों का। सामान्य समाज में विभिन्न प्रस्थितियों को धारण करने वाले लोग हरफन मौला होते हैं, उस्ताद नहीं। शहरों की प्रस्थितियां विशिष्टता लिए हुए होती हैं। यह प्रस्थितियों की विभिन्नता के कारण ही है कि समाज का स्तरीकरण अधिक पैना हो जाता है।
- **प्रस्थिति के साथ प्रतिष्ठा जुड़ी होती है**: हम यह बराबर दोहरा रहे हैं कि प्रस्थिति के साथ समाज की आवश्यकताएं और उसके हेतु जुड़े होते हैं। दूसरा, प्रस्थिति के साथ कार्य संपादन भी जुड़ा होता है, इसे भूमिका कहते हैं। जिस प्रस्थिति के कार्य समाज के लिए अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, जिसके लिए अधिक सूझ-बूझ, प्रशिक्षण और शिक्षा की आवश्यकता होती है, उस प्रस्थिति को समाज ऊंचा समझता है और इसके लिए ऊंची पगार भी देता है। प्रस्थिति से जुड़े हुए पगार पारितोषिक, आदर-सम्मान आदि प्रस्थिति का

मूल्यांकन या उसकी प्रतिश्ठा है। समाज में पायलट की प्रस्थिति प्रतिष्ठापूर्ण है। इसके साथ बहुत बड़ी कुशलता और जोखिम जुड़ी है। यही इस प्रस्थिति की प्रतिष्ठा है। निम्न प्रस्थिति की प्रतिष्ठा निम्न होती है। लेकिन हर अर्थ में कोई प्रस्थिति बिना प्रतिष्ठा के नहीं होती। प्रतिष्ठा को प्रस्थिति से अलग करके नहीं देखा जा सकता

- **प्रस्थिति को भूमिका से पृथक् नहीं किया जा सकता**: प्रस्थिति का आविर्भाव भूमिका से होता है। यदि समाज की आवश्यकताएं न हों तो भूमिकाओं को संपन्न करने के लिए प्रस्थितियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। आदिवासी गांवों में कंप्यूटर की पहुंच नहीं है और यह इसलिए कि उन्हें लंबे चौड़े हिसाब की जरूरत नहीं होती और इसलिए इस समाज में कंप्यूटर इंजीनियर या प्रोग्रामर की आवश्यकता नहीं होती। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी प्रस्थिति की कल्पना भूमिका के बिना नहीं की जा सकती। ये दोनों एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह हैं।

6.4 प्रस्थिति के प्रकार

प्रस्थिति के प्रकार को मुख्य रूप से समाजशास्त्रियों ने दो प्रकार से परिभाषित करने का प्रयास किया है-: (1) प्रदत्त प्रस्थिति और (2) अर्जित प्रस्थिति। जो प्रस्थिति व्यक्ति को जन्म से या बिना किसी प्रयास के प्राप्त होती है तो उसे प्रदत्त प्रस्थिति कहते हैं। इस प्रकार की प्रस्थिति में अधिकांशतः वे प्रस्थितियां आती हैं जो नातेदारी से संबंध रखती है। इसके विपरीत अर्जित प्रस्थिति वह होती है जिसे व्यक्ति अतिरिक्त मेहनत, गुण व प्रयास या योग्यता से प्राप्त करता है। साधारणतया इस श्रेणी में व्यक्ति की व्यावसायिक प्रस्थितियां आती हैं। इंजीनियर, चिकित्सक, प्राध्यापक, व्यापारी, वकील, ऐसे अगणित दृष्टांत हैं, जो अर्जित प्रस्थिति की तालिका में आते हैं। चिकित्सक आज जो कुछ है, इस प्रस्थिति को पाने के लिए उसने लंबी अवधि तक कठोर परिश्रम किया है, उसके इस प्रशिक्षण में एक अच्छी खासी धनराशि भी लगी है। इस प्रस्थिति के लिए उसने कई अनुभवों को झेला है। तब कहीं जाकर वह चिकित्सक बना है। किसी भी अर्जित प्रस्थिति को लें, व्यक्ति को योग्यता प्राप्त करनी होती है। क्षमता लानी पड़ती है और यह सब उसकी स्वयं की योग्यता से है। अर्जित प्रस्थितियां वस्तुतः व्यक्ति की स्वयं की उपलब्धियां हैं।

हेरालांबोस ने अर्जित प्रस्थिति को व्यक्ति की स्वयं की प्राप्ति बताया है। यह प्रस्थिति वह है, जिसे अपनी पसंद से एक आदमी प्राप्त करता है। अर्जित प्रस्थिति की संक्षिप्त व्याख्या हेरालांबोस ने इस भांति की है: व्यक्ति के उद्देश्यपूर्ण कार्य और उसकी पसंद ही एक सीमा तक अर्जित प्रस्थिति को बनाते हैं। हेरालांबोस की तरह होर्टन एवं हंट ने भी अर्जित प्रस्थिति को व्यक्ति की स्वयं की पसंद और प्रतियोगिता के माध्यम से प्राप्त होने वाली प्रस्थिति कहा है। वे लिखते हैं: किसी भी सामाजिक पद को जब व्यक्ति अपनी इच्छा एवं प्रतियोगिता के माध्यम से प्राप्त करता है तो उसे अर्जित प्रस्थिति कहते हैं।

प्रस्थिति का वर्गीकरण पिछले पांच-छह दशकों पुराना है। सामान्यतया आम लोग प्रस्थिति का तात्पर्य उस स्थिति से समझते हैं जो प्रदत्त हैं यानी जन्म से। 19वीं शताब्दी के लेखकों ने विशेषकर सर हेनरी मेन, रोबर्ट पार्क और एरनेस्ट बर्गेस ने प्रस्थिति की व्याख्या में केवल यही कहा कि यह व्यक्ति के लिए स्थिर होती है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में जब आधुनिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र का जन्म हुआ, तब समझा जाने लगा कि प्रस्थिति केवल प्रदत्त या वंशानुगत नहीं है, इसका संबंध वृहद् सांस्कृतिक क्षेत्र से है। अब कहा जाता है कि एक ही प्रस्थिति में सामान्यतया कई सहायक प्रस्थितियां होती हैं। इसी संदर्भ में अमेरिका के मानवशास्त्री राल्फ लिंटन ने सबसे पहली बार प्रस्थिति के वर्गीकरण को प्रस्तुत किया। उनके अनुसार प्रस्थिति प्रदत्त और अर्जित दोनों हैं। प्रस्थिति का यह दोहरा वर्गीकरण प्रदत्त और अर्जित जिसे पहली बार लिंटन ने किया, आज भी समाजशास्त्र में अपनी मान्यता रखता है।

6.5 प्रस्थिति का आधार

समाजशास्त्र में जब प्रस्थिति का उल्लेख करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य कर्त्तव्य और अधिकारों का जोड़ है। जिस पद के साथ ये दोनों जुड़े होते हैं, वही प्रस्थिति है। प्रस्थिति एक पद या स्थान है और इसके साथ जुड़ी हुई भूमिकाएं होती हैं। इस अर्थ में प्रस्थिति का गतिशील पहलू भूमिका है। प्रायः प्रस्थिति तो अपेक्षित रूप से स्थिर रहती है। पर उससे जुड़ी हुई भूमिकाएं बराबर परिवर्तनशील रहती हैं। पहले माता-पिता का कर्त्तव्य बच्चों का पालन-पोषण करना मात्र था। अब माता-पिता की प्रस्थिति तो स्थिर है, लेकिन पालन-पोषण की भूमिका वृहद् हो गई है। माता-पिता चाहते हैं कि बच्चों को अधिकतम व्यावसायिक शिक्षा उपलब्ध करवाएं, उसे प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए तैयार करें और इससे आगे उन्हें अच्छा पद और प्रतिष्ठा प्राप्त हो सके। यह सब हो जाने के बाद माता-पिता का कर्त्तव्य विवाह करवाना होता है। कुछ स्थितियों में विवाह स्वयं बच्चों पर छोड़ा जा सकता है। इस दृष्टांत में माता-पिता की प्रस्थिति तो स्थिर है पर उनकी भूमिकाएं बदल जाती हैं। यहीं पर आकर लिंटन प्रस्थितियों को प्रदत्त और अर्जित भागों में बांटते हैं।

प्रस्थिति व्यक्ति को जन्म से प्राप्त होती है। इसका मतलब यह हुआ कि वंशानुगत प्रस्थिति व्यक्ति के हाथ में नहीं होती। इसका निर्णय तो सामान्यतया जैविकीय कारक करते हैं। कई बार प्रदत्त प्रस्थिति परंपराओं द्वारा भी निर्धारित की जाती है। व्यक्ति का किसी जाति या प्रजाति में जन्म जैविकीय कारकों का परिणाम है। इसी तरह किसी व्यक्ति का राजा बनना, चौधरी बनना स्थिर प्रस्थिति है, इसका कारण परंपरा है। राजा का लड़का राजा बनता है, यह परंपरागत प्रस्थिति है। कई मठों में मठाधीश द्वारा निर्धारित उत्तराधिकारी ही मठ का अधिष्ठाता बनता है, यह प्रस्थिति भी परंपरागत है। लिंटन कहते हैं कि प्रदत्त प्रस्थिति के कई कारण होते हैं, कई आधार होते हैं। सामान्यतया, उनके अनुसार प्रदत्त प्रस्थिति के मुख्य पांच आधार हैं:

- लिंग भेद

- जातीय एवं प्रजातीय भेद
- आयु भेद
- नातेदारी के संबंध, और
- परंपरागत आधार

उपरोक्त पांच आधार जन्म से ही व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। ये आधार मुख्यतया जैविकीय होते हैं या परंपरागत।

1. **लिंग भेद:** आज लिंग भेद पर बहस छिड़ी है । इसकी समाप्ति के लिए अनेक आंदोलन किए गए हैं। हम स्त्री-पुरूष समानता की बात करते हैं लेकिन आज पुरुष और स्त्री मे जो अंतर है- जो जैविकीय भेद है, उसे दूर करने की चर्चा करना कठिन है। स्त्री प्रजनन करती है, यह उसकी जैविकीय खासियत है जो उसे जन्म से मिली है, उससे वह मुक्त नहीं हो सकती। लिंग भेद जैवकीय है, इसे दूर करना कठिन है। हां, यह संभव है कि स्त्रियों की सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका में अंतर लाया जा सके। इस तरह का सामाजिक परिवर्तन प्रदत्त प्रस्थिति में परिवर्तन न होकर अर्जित प्रस्थिति में परिवर्तन है। लिंटन का आग्रह है कि प्रदत्त प्रस्थिति अपेक्षित रूप से स्थिर होती है। प्रदत्त प्रस्थिति ही भूमिकाओं को निश्चित करती है। बच्चे को अपने उदर में रखना स्त्रियों के लिए ही संभव है, इसी तरह कुछ ऐसे कलात्मक कार्य हैं जो प्रदत्त प्रस्थिति के साथ जुड़े हुए हैं। प्रदत्त प्रस्थिति के साथ जोखिम भी होते हैं। ऐसा ही एक जोखिम बलात्कार का है। निश्चित रूप से लिंग भेद पर आधारित प्रस्थिति जैविकीय है। व्यक्ति इस प्रस्थिति को नहीं बदल सकता लेकिन इस प्रस्थिति से जुड़ी हुई भूमिकाएं हैं जो सामाजिक और सांस्कृतिक हैं ये स्थिर नहीं है इन्हें बदला जा सकता है। उदाहरण के लिए स्त्रियों की प्रदत्त प्रस्थिति बच्चे जनने की क्षमता है, लेकिन यदि कुछ स्त्रियां बच्चे जनना नहीं चाहतीं यानी मां की प्रस्थिति नहीं चाहतीं तो उन्हें इसके लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। यूरोप और अमेरिका में एक नई प्रवृत्ति चल पड़ी है जिसके अनुसार स्त्रियां बच्चे जनना पसंद नहीं करतीं। कहने का अर्थ यह है कि प्रदत्त प्रस्थिति होते हुए भी भूमिकाओं में बड़े अंतर देखने को मिलते हैं। कुछ समाजों में जैसे कि मातृसत्तात्मक परिवारों में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की प्रस्थिति उच्च होती है। इसी भांति आदिम समाजों में स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की प्रस्थिति उच्च होती है। अमेरिका और यूरोप में बराबर की होती है। प्रदत्त प्रस्थिति तो लिंग भेद के आधार पर स्थिर होती है, लेकिन इससे जुड़ी हुई भूमिकाएं स्थिर हों, ऐसा कदापि नहीं है। अब दुनिया भर में जो नारी मुक्ति के आंदोलन चल रहे हैं, वे स्त्रियों के लिए नई भूमिकाओं की खोज है।

2. **जातीय एवं प्रजातीय भेद**:हमारे देश में प्रदत्त प्रस्थिति का एक उदाहरण जाति से जुड़ा है। हमारे यहाँ व्यक्ति की जाति उसके जन्म के आधार पर समझी जाती है। ऐसी कोई वैध प्रक्रिया नहीं है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी जाति बदल सके। यह अवश्य है कि महाकाव्यों के काल में कुछ व्यक्तियों ने अपना वर्ण बदला है। वर्ण का उद्विकास जातियों से हुआ है और जातियां बदली नहीं जा सकतीं। कोई भी क्षत्रिय ब्राह्मण नहीं बन सकता। जातियों की प्रस्थिति स्थिर

होती है लेकिन इनकी भूमिकाएं बदल सकती हैं। एक समय था जब ब्राह्मणों की भूमिका पठन-पठन की थी। वे पंडिताई करते थे। आज ब्राह्मणों की यह परंपरागत भूमिका बदल गई है। पिछले समय में दलित वर्गों की भूमिका निम्न समझी जाती थी, आज आरक्षण के परिणामस्वरूप वे एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर आए हैं। उनके संविधान प्रदत्त कुछ विशेष अधिकार हैं।

यूरोप और अमेरिका में प्रजातियों की प्रस्थिति प्रदत्त प्रस्थिति है। जो जन्म से काकेशियन प्रजाति में पैदा हुआ है, वह काकेशियन ही है। चाहने पर भी यह काकेशियन या इस अर्थ में नीग्रो या मंगोलियन अपनी प्रजातीय प्रस्थिति को नहीं बदल सकता। उसकी प्रस्थिति तो स्थिर है। यह अवश्य है कि इस प्रस्थिति से जुड़ी हुई सामाजिक भूमिकाओं में अंतर अवश्य आ जाता है। दूसरे विश्व युद्ध में हिटलर और नाजियों ने प्रजाति के नाम पर नरसंहार किए हैं। वह एक भूमिका थी। आज और विशेषकर यूनेस्को की एक घोषणा के अनुसार प्रजाति पर आधारित पूर्वाग्रह बेमतलब हैं। इस अर्थ में, कम से कम सिद्धांत रूप में तो प्रजातियों से जुड़ी हुई भूमिकाएं बदल गई हैं, लेकिन स्वयं प्रजाति की प्रस्थिति स्थिर है।

3. **आयु भेद:** आयु समूह प्रदत्त है। प्रत्येक समाज में पीढ़ियां होती हैं और पीढ़ियों का यह अंतर आयु पर निर्भर होता है। आयु भेद के साथ में भूमिकाएं भी बदल जाती हैं। बच्चे शरारत करते हैं, यह उनकी भूमिका हैं। वयस्क व्यक्ति उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार करते हैं, यह उनकी भूमिका है। समाज में कई भूमिकाएं आयु भेद पर आधारित होती हैं। विवाह का निर्णय आयु के आधार पर किया जाता है। सरकारी नौकरियों में सेवा निवृत्ति के लिए भी आयु एक आधार होती है। जब किसी व्यक्ति को समारोह में आदर दिया जाता है तो निश्चित रूप से उसके आयु वर्ग को ध्यान में रखा जाता है। हम बराबर यह तर्क देते आ रहे हैं कि किसी भी समाज में प्रस्थिति प्रदत्त हो सकती है, स्थिर रह सकती है लेकिन उससे जुड़ी हुई भूमिकाओं में बदलाव बराबर बना रहता है। आज जबकि हम विश्व व्यापीकरण और उदारीकरण की चर्चा करते हैं तब यह निश्चित है कि जैविकीय कारकों पर आधारित हमारी जो भी प्रदत्त प्रस्थिति है, उसमें कोई अंतर नहीं आता। न ब्राह्मण क्षत्रिय बनता है और न वृद्ध जवान बनता है। ये सब प्रस्थितियां प्रदत्त हैं। यहां यह भी कहना चाहिए कि इन प्रस्थितियों से जुड़ी हुई जो भूमिकाएं हैं, अपवाद को छोड़कर सभी की भूमिकाएं गतिशील हैं, बदलती रहती हैं।

4. **नातेदारी के संबंध:** नातेदार दो तरह के होते हैं: रक्त संबंधी नातेदार और विवाह संबंधी नातेदार। इन दोनों नातेदारों में विवाह संबंधी नातेदार सामान्यतया व्यक्ति के पसंद के नातेदार होते हैं, लेकिन रक्त संबंधी नातेदार प्रदत्त नातेदार की श्रेणी में आते हैं। हमारा भाई कैसा है, यह हमारी पसंदगी नहीं है। रक्त से जुड़ा होने के कारण वह हमारा भाई है, चाहे कैसा भी हो। जितने भी हमारे रक्त संबंधी नातेदार हैं, वे सभी प्रदत्त प्रस्थिति कहलाते हैं। परिवार तथा नातेदारी में कई प्रस्थितियां प्रदत्त होती हैं: भाई, बहिन, मां-बाप, नाना, बुआ आदि। आदिम समाजों में तो प्रदत्त प्रस्थिति की बहुत बड़ी भूमिका होती है। बहुपत्नी प्रथा में परिवार के सदस्यों की संख्या और इस तरह एक ही परिवार की माताओं की प्रस्थिति बहुत लंबी चौड़ी होती है। उदाहरण के लिए यदि कोई गौंड या भील तीन पत्नियां रखता है तो

उनसे उत्पन्न किसी एक बच्चे की तीन माताएं हो जाती हैं और इसी तरह माता की प्रस्थिति की तालिका भी लंबी हो जाती हैं।

5. **परंपरागत आधार:** कुछ प्रस्थितियां ऐसी हैं जो विशुद्ध रूप से परंपरागत होती हैं। पिछले दिनों में व्यक्ति की सजा या जागीरदार की प्रस्थिति परंपरा से प्राप्त हो जाती थी। राजा का जो ज्येष्ठ लड़का होता था, राज्य का उत्तराधिकारी वही बनता था। वह चाहता या नहीं चाहता, परंपरा ने उसे राजा बना दिया था। वल्लभ संप्रदाय में जो भी संप्रदाय का अग्रणी है, उसे उत्तराधिकारी बनाया जाता है। ऐसी प्रदत्त प्रस्थितियों का एक मात्र आधार परंपरा होती है। जिस तरह सभी समाजों और समूहों में परंपराएं एक समान नहीं होती, वैसी ही परंपरागत प्रस्थिति भी एक समान नहीं होती है। ये प्रस्थितियां समूह की परंपरा के साथ बदलती रहती हैं। प्रदत्त प्रस्थिति के कुछ और आयाम भी हैं। ये आयाम सामाजिक व्याधिकी के परिणाम हैं। हिंदू सामाजिक व्यवस्था में जब एक जाति का सदस्य अपने से निम्न जाति के सदस्य से विवाह करता था जो उनसे उत्पन्न संतान को वर्णसंकर कहते थे। ऐसी संतान ब्राह्मण और राजपूत, बनिया आदि की मिश्रित हुआ करती थी। इसी कारण इसे प्रदत्त प्रस्थिति कहते हैं। इसी भांति वेश्या से उत्पन्न हुई संतान की प्रस्थिति भी विशिष्ट प्रस्थिति समझी जाती है। यद्यपि आजकल अंतर्जातीय और अंतर्धार्मिक विवाह होने लगे हैं, लेकिन इस तरह की प्रदत्त प्रस्थितियां समाज में न्यूनतम होती हैं।

6.6 प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति में अंतर

दो-तीन दशकों पहले समाजशास्त्र में एक बहस प्रारंभ हुई थी- पर्यावरण बनाम वंशानुक्रम। दोनों ही पक्षों ने अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किए। वंशानुक्रम वादियों का कहना था कि मनुष्य का शरीर, उसका रंग और उसके शारीरिक लक्षण जन्म से प्राप्त होते हैं और इसलिए वंशानुक्रम मनुष्य की क्षमता को पैदा करता है। पर्यावरणवादियों का तर्क कुछ दूसरा था। उनका कहना था कि वंशानुक्रम कितना ही प्रभावी क्यों न हो, जब तक उसे अनुकूल पर्यावरण नहीं मिलता, व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। इस बहस के निष्कर्ष में कहा गया कि पर्यावरण और वंशानुक्रम परस्पर विरोधी नहीं हैं। दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। कुछ इस तरह की तुलना प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियों के बीच में की जाती है। वास्तव में देखा जाए कि इन दोनों में कौन सी प्रस्थिति महत्वपूर्ण है, यह किसी भी विवेचन का मुद्दा नहीं बन सकता। यदि दोनों का अंतर ही देखना है तो इसमें हमें पूरक प्रस्थितियों के रूप में दोनों को समझना होगा। अतः प्रदत्त तथा अर्जित प्रस्थिति का अंतर हम यहां इसी दृष्टि से इन दोनों प्रस्थितियों का अंतर स्पष्ट करेंगे।

1. प्रदत्त प्रस्थिति बुनियादी प्रस्थिति है: लिंटन ने जब अर्जित प्रस्थिति का उल्लेख किया तब उन्होंने इस बात को दृढ़तापूर्वक कहा कि 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक अर्जित प्रस्थिति का सामाजिक संबंधों के विश्लेषण में कोई उल्लेख नहीं था। आम आदमी प्रस्थिति का अर्थ प्रदत्त यानी जन्मजात रूप में ही लेता था। प्रस्थितियों के अंतर की

बात उद्योगीकरण, शहरीकरण आदि के आने के परिणामस्वरूप हुई। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो कहना होगा कि प्रदत्त प्रस्थिति बुनियादी प्रस्थिति है। अर्जित प्रस्थिति तो हाल की खोज है।

2. **प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति की इच्छाओं पर निर्भर नहीं है:** प्रकृति ने जैविकीय और भौतिक संरचना को बनाया है। मनुष्य के चाहने पर पेड़ की पत्तियां अपना रंग नहीं बदल सकतीं, मनुष्य की इच्छा पर पहाड़ झुक कर समतल नहीं हो सकते। कुछ इसी तरह काले रंग के लोग गोरे नहीं हो सकते। ठिकने कद वाले लंबे नहीं हो सकते और चाहने पर स्त्रियां पुरुष नहीं बन सकतीं। कुछ प्रदत्त प्रस्थितियां परंपराओं के कारण भी हैं। सामान्यतया इनका परिवर्तन भी मनुष्य के हाथ में नहीं है। अतः प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति की प्रकृति में यह अंतर महत्वपूर्ण है कि प्रदत्त प्रस्थिति जैविकीय और प्राकृतिक होती है, कुछ अंशों में पारंपरिक भी होती हैं, जबकि अर्जित प्रस्थिति स्वयं व्यक्ति की उपलब्धि है। वह जिस किसी प्रस्थिति में है -चिकित्सक, अध्यापक इत्यादि - उसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी है, कम से कम जैविकीय कारक तो नहीं।

3. **प्रदत्त प्रस्थिति की भूमिका में परिवर्तन आता है:** प्रत्येक प्रस्थिति के साथ भूमिकाएं जुड़ी होती हैं। यह सही है कि प्रदत्त प्रस्थिति बदलती नहीं है लेकिन जब समाज परिवर्तन के तीव्र दौर में से गुजरता है तो इस प्रस्थिति में जुड़ी हुई भूमिकाएं भी बदल जाती हैं। माता-पिता की भूमिका है कि वह अपने बच्चों को शिक्षा प्रदान करे। लेकिन शिक्षा प्रदान करने की यह भूमिका द्वैतीयक संस्थाओं ने ले ली है। वैसे वयस्क बच्चों का विवाह करवाने की भूमिका माता-पिता अदा करते थे। यह भूमिका भी अब स्वयं बच्चों के हाथ में चली गई है। हो यह रहा है कि प्रदत्त प्रस्थितियां तो स्थायी बनी हुई हैं, लेकिन उनसे जुड़ी हुई भूमिकाओं में बराबर अंतर आ रहा है।

5. प्रदत्त प्रस्थितियां आदिम समाजों में अधिक प्रतिष्ठित होती हैं: मानवशास्त्रियों के अध्ययनों के दो निष्कर्ष हैं जिनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आदिम समाजों में प्रदत्त प्रस्थिति का स्थान प्रतिष्ठा का स्थान है। अब भी इन समाजों में पंचायत और उसके मुखियाओं की प्रस्थिति वंशानुगत होती है। यदि आज एक व्यक्ति मुखिया है तो उसके बाद सहज रूप से उसका पुत्र मुखिया बन जाएगा। इन समाजों में जो परंपरागत प्रदत्त प्रस्थितियां हैं, उनमें परिवर्तन तो होता है लेकिन इसकी गति बहुत धीमी होती है। इसका मतलब हुआ, आदिम समाज यानी प्रदत्त प्रस्थिति का समाज। दूसरी और अर्जित प्रस्थिति प्रजातांत्रिक और विकसित देशों में मिलती है। ज्यों-ज्यों समाज अधिक विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों नई अर्जित प्रस्थितियों का उद्गम होता रहता है। यूरोप के समाज में यदि पिछले एक दशक के परिवर्तन के दौर को ही देखें तो हमें कई नई अर्जित प्रस्थितियां देखने को मिलेंगी।

प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति एक दूसरे के विपरीत नहीं हैं। ये दोनों प्रस्थिति के प्रकार हैं। दोनों ही प्रस्थिति हैं और दोनों ही एक दूसरे की पूरक हैं। जब इन प्रस्थितियों को हम समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखते हैं तो हमे बराबर यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्थितियों के ये प्रकार सामाजिक संरचना से उत्पन्न हुए हैं, सामाजिक संस्कृति से जुड़े होते हैं।

अतः समाज और कुछ न होकर प्रस्थिति का एक जाल है। जब प्रस्थितियां बदलती हैं या समाज बदलता है तब प्रस्थिति और भूमिका में भी बदलाव आता है। हम ऐसा समझते हैं कि प्रस्थिति का पृथक् विश्लेषण बेमतलब है, जब तक कि हम उसे संपूर्ण समाज के संदर्भ में नहीं देखते। विकासशील देशों में प्रस्थिति का जो स्थान होता है वह विकसित समाज से भिन्न होता है और विकासशील समाजों में जो स्थान प्रस्थिति का होता है, उससे भिन्न आदिम समाजों में। प्रस्थिति का संदर्भ सदैव समाज से होता है।

सामाजिक संगठन के निर्माण में समाज के प्रत्येक व्यक्ति का योगदान होता है। योगदान का स्तर भिन्न हो सकता है पर प्रत्येक व्यक्ति की एक निश्चित जगह होती है। यही निश्चित स्थान ही प्रस्थिति को दर्शाती है। हर पारस्परिक संबंध में हर व्यक्ति की एक सुपरिभाषित जगह न हो ऐसा असंभव है। कोई भी व्यक्ति एक-दूसरे को तब तक प्रभावित नहीं कर सकता, जब तक दी गई प्रस्थिति में उसकी प्रस्थिति के साथ-साथ दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों की प्रस्थिति का ज्ञान न हो। इस प्रकार परिवार में पारस्परिक संबंधों एवं भूमिका निर्वहन में कोई परेशानी नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक सदस्य को अपनी व दूसरों की प्रस्थिति की जानकारी होती है। इसी जानकारी के कारण पारस्परिक संबंधों में निरंतरता बनी रहती है और उसका पूर्वानुमान भी रहता है। जब हम कभी किसी अजनबी व्यक्ति से मिलते हैं, तब हमारा प्रयास यह रहता है कि सबसे पहले उसकी प्रस्थिति को जानें। जब तक हमें उसकी प्रस्थिति की जानकारी नहीं होती, तब तक हमें यह स्पष्ट भी नहीं होता है कि उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाए। अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्थिति की विषयवस्तु समझ कर ही पारस्परिक संबंधों की संरचना तैयार होती है। प्रस्थिति के साथ-साथ भूमिका भी सहसंबंधित रहती है। प्रत्येक प्रस्थिति के साथ कुछ कर्त्तव्य व दायित्व जुड़े होते हैं, जब व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुरूप कर्तव्यों का निर्वाह करता है तो उसे ही हम भूमिका कहते हैं। इस अध्याय में हम प्रस्थिति व भूमिका का विस्तार से अध्ययन करेंगे। जिसमें आप प्रस्थिति एवं भूमिका के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करेंगे एवं यह जान सकेंगे कि किस प्रकार हमारे जीवन में ये दोनों कारक अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं।

बोध प्रश्न -1

क- रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1 हेरालांबोस ने ..... प्रस्थिति को व्यक्ति की स्वयं की प्राप्ति बताया है।

2 प्रस्थिति से अभिप्राय उस स्थान से होता है कि .....व्यक्ति या समूह प्राप्त करता है।

3 अर्जित प्रस्थिति ..... होती है

बहुविकल्पीय प्रश्न

1 किसने प्रस्थिति का वर्गीकरण प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थिति के रूप में कियाः

(i) इलिएट तथा मेरिल (ii) राल्फ लिंटन

(iii) टी. पारसंस (iv) के. डेविस

……

……

2 निम्नलिखित में से कौन -सी स्थिति से प्रस्थिति का बोध होता हैः

(i) मजदूर (ii) गुंडा

(iii) न्यायाधीश (iv) तस्कर

……

……

6.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप प्रस्थिति को समझ गए होंगे। व्यक्ति अपने जीवन काल में अनेक प्रस्थितियों को धारण करता है। मुख्य रूप से प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियां होती हैं। उन्हीं के अनुरूप जब व्यक्ति अपने दायित्व या कर्त्तव्य का निर्वहन करता है तो उसे भूमिका कहते हैं। कई बार ऐसी स्थिति भी पैदा हो जाती है कि व्यक्ति के सामने भूमिका संघर्ष हो जाता है। इन सभी अवधारणाओं को हमने समझने का प्रयास किया है।

6.8 अभ्यासार्थ प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न -1

भाग क

1 अर्जित

2 सामाजिक व्यवस्था

3 परिवर्तनशील

भाग ख-

1 राल्फ लिंटन

2 न्यायाधीश

6.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दुबे, एस. एम. एवं शर्मा, दिनेश, समाजशास्त्र: एक परिचय, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली, 1989.

2. रावत, एच.के., सोशियोलॉजी: बेसिक कंसेप्ट, रावत, जयपुर, 2001.

3. दोशी एवं जैन, समाजशास्त्र: नई दिशाएं, नेशनल, जयपुर, 2002.

6.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Cooley, C.H.,Social Organization, Glencoe :The Free Press, 1962

Davis,Kingsley, Human Society, New York:MacMillan Company,1949

Fairchild, H.P.(ed), Dictionary of Sociology,London:Vision,1958

2. रावत, एच.के., सोशियोलॉजी: बेसिक कंसेप्ट, रावत, जयपुर, 2001.

3. दोशी एवं जैन, समाजशास्त्र: नई दिशाएं, नेशनल, जयपुर, 2002.

6.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. प्रस्थिति से आप क्या समझते हैं ? इसकी पारिभाषिक व्याख्या कीजिए।

2. प्रस्थिति की मूलभूत विशेषताएं बताइये।

3. प्रदत्त व अर्जित प्रस्थिति में अंतर स्पष्ट कीजिए।

4. प्रस्थिति की परिभाषा दीजिए एवं इसके प्रकारों की व्याख्या कीजिए।

इकाई-7 भूमिका: अर्थ, विशेषताएं, प्रस्थिति एवं भूमिका में संबंध

(Role: Meaning, Characterstics, Relationship between Status and Role)

इकाई की रूपरेखा

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 भूमिका

7.3 भूमिका की अवधारणा, अर्थ एवं परिभाषा

7.4 भूमिका के प्रमुख तत्त्व

7.5 भूमिका की प्रमुख विशेषताएँ

7.6 प्रस्थिति एवं भूमिका में संबंध

7.7 प्रस्थिति एवं भूमिका का महत्व

7.8 बोध प्रश्न

7.9 सारांश

7.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

7.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

7.12 निबंधात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

सामाजिक संगठन के निर्माण में समाज के प्रत्येक व्यक्ति का योगदान होता है। योगदान का स्तर भिन्न हो सकता है पर प्रत्येक व्यक्ति की एक निश्चित जगह होती है। यही निश्चित स्थान ही प्रस्थिति को दर्शाती है। हर पारस्परिक संबंध में हर व्यक्ति की एक सुपरिभाषित जगह न हो ऐसा असंभव है। कोई भी व्यक्ति एक-दूसरे को तब तक प्रभावित नहीं कर सकता, जब तक दी गई प्रस्थिति में उसकी प्रस्थिति के साथ-साथ दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों की प्रस्थिति का ज्ञान न हो। इस प्रकार परिवार में पारस्परिक संबंधों एवं भूमिका निर्वहन में कोई परेशानी नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक सदस्य को अपनी व दूसरों की प्रस्थिति की जानकारी होती है। इसी जानकारी के कारण पारस्परिक संबंधों में निरंतरता बनी रहती है और उसका पूर्वानुमान भी रहता है। जब हम कभी किसी अजनबी व्यक्ति से मिलते हैं, तब हमारा प्रयास यह रहता है कि सबसे पहले उसकी प्रस्थिति को जानें। जब तक हमें उसकी प्रस्थिति की जानकारी नहीं होती, तब तक हमें यह स्पष्ट भी नहीं होता है कि उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाए। अतः यह स्पष्ट है कि प्रस्थिति की विषयवस्तु समझ कर ही पारस्परिक संबंधों की संरचना तैयार होती है। प्रस्थिति के साथ-साथ भूमिका भी सहसंबंधित रहती है। प्रत्येक प्रस्थिति के साथ कुछ कर्त्तव्य व दायित्व जुड़े होते हैं, जब व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुरूप कर्तव्यों का निर्वाह करता है तो उसे ही हम भूमिका कहते हैं। इस अध्याय में हम भूमिका का विस्तार से अध्ययन करेंगे। जिसमें आप भूमिका के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करेंगे एवं यह जान सकेंगे कि किस प्रकार हमारे जीवन में ये दोनों कारक अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- भूमिका की अवधारणा अर्थ
- भूमिका की परिभाषा ज्ञात कर सकेंगे।
- भूमिका के प्रमुख तत्त्व जान सकेंगे।
- भूमिका की प्रमुख विशेषताएँ जान सकेंगे।
- प्रस्थिति एवं भूमिका में संबंध स्थापित कर सकेंगे।
- प्रस्थिति एवं भूमिका का महत्व समझ सकेगे।

7.2 भूमिका

अब हम भूमिका की अवधारणा पर विचार करेंगे। भूमिका वास्तव में प्रस्थिति का व्यवहारात्मक पक्ष है। किसी भी व्यक्ति की तब तक कोई प्रस्थिति नहीं हो सकती, जब तक कि उसके साथ कोई भूमिका न जुड़ी हो। अतः भूमिका का निर्वाह करना ही प्रस्थिति का सक्रिय पहलू है। प्रत्येक भूमिका के साथ कुछ अधिकार व कर्त्तव्य जुड़े होते हैं। उदाहरणार्थ माता-पिता की प्रस्थिति प्राप्त करने वाले व्यक्ति का अपने बच्चों पर अधिकार होने के साथ-साथ उनके प्रति कुछ जिम्मेदारियों व कर्त्तव्यों का संबंध भी जुड़ा हुआ है। अतः प्रस्थिति व भूमिका एक सिक्के के दो पहलू हैं।

समाजशास्त्र की अवधारणा, भूमिका पर समाजशास्त्रियों ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। राल्फ लिंटन ने प्रस्थिति पर जो कुछ लिखा है, उसी संदर्भ में उन्होंने भूमिका की बात भी कही है। लिंटन के बाद हेनरीमेन ने प्रस्थिति के साथ भूमिका पर बहुत कुछ लिखा है। इसके बाद किंग्सले डेविस ने प्रस्थिति और भूमिका को आधुनिक समाजशास्त्र के संदर्भ में रखा। हाल में रोबर्ट मर्टन ने भूमिका की व्याख्या नवीन संदर्भ में की है। आज भूमिका के कई नए क्षेत्र उभर कर हमारे सामने आए हैं।

7.3 भूमिका की अवधारणा, अर्थ एवं परिभाषा

हेरालांबोस कहते हैं कि समाज में प्रत्येक प्रस्थिति के साथ में कई भूमिकाएं जुड़ी हुई होती हैं। इन भूमिकाओं का निर्वाह करने के लिए मानदंड भी होते हैं। ये मानदंड ही वस्तुतः भूमिका है। उदाहरण के लिए, पति की जो प्रस्थिति है उसके मानदंड हैं और पति जिस भूमिका को निभाता है, वह मानदंडों के अनुरूप होती है और जब मानदंड प्रस्थिति द्वारा अमल में लाए जाते हैं, तब उन्हें भूमिका कहते हैं। इसी तरह वकील की एक प्रस्थिति है। इस प्रस्थिति के अनुसार वकील से यहीं आशा की जाती है कि वह नवीनतम कानून के साथ में अपनी जानकारी रखेगा। वह कायदे कानून में पारंगत होगा। इस अर्थ में कायदे कानून मानदंड है। अदालत में पैरवी करने का एक खास प्रतिमान होता है। यह भी मानदण्ड है। जब वकील अपने मुवक्किल की पैरवी करता है तो पैरवी करने का यह काम उसकी भूमिका है। लिंटन, हेनरीमेन, डेविस और उसके बाद की पीढ़ियों ने भूमिका की जो व्याख्या की है, इसके अनुसार भूमिका प्रक्रिया का क्रियात्मक स्वरूप हैं, ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यदि किसी समाज में कोई एक निश्चित प्रस्थिति है तो अनिवार्य रूप से इसके साथ जुड़ी हुई भूमिकाएं भी है। भूमिकाएं वस्तुतः मानदंड हैं, जिनकी व्यवहार में क्रियान्विति की जाती है। वकालत, अध्यापन, मजदूरी, भवन निर्माण आदि भूमिकाएं हैं। हेरालांबोस ने भूमिका का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है:

सामाजिक कार्य व्यवहार को नियमित और संगठित करते हैं। विशेषकर भूमिका किन्हीं कार्यों को संपन्न करने में साधन का काम करती है। संस्कृति के एक पहलू में व्यवस्थित समाज में भूमिकाएं मार्गदर्शन करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है।

जब भूमिका की चर्चा करते हैं तो हमें यह अवश्य कहना चाहिए कि इनके माध्यम से हमें दूसरे लोगों की भूमिका का ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान हमें व्यक्तियों के भविष्य में होने वाले व्यवहार की जानकारी देता है। यह भी निश्चित है कि जब तक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से जुड़ी हुई भूमिका का निर्वाह करता है, वह प्रस्थिति से जुड़ा रहता है। यदि भूमिकाओं का निर्वाह उससे नहीं होता तो उसकी प्रस्थिति खतरे में पड़ जाती है। यदि चिकित्सक उसकी निर्धारित भूमिका को संपन्न नहीं करता तो अपने आप उसकी चिकित्सक की प्रस्थिति कमजोर हो जाती है और जब चिकित्सक अपनी भूमिका का निर्वाह करता है तो ऐसा करने में उसकी भूमिका के साथ जो संहिता जुड़ी हुई है, उसी के अनुसार उसे काम करना पड़ता है।

किंग्सले डेविस ने भूमिका के विश्लेषण में लिखते हुए कहा है कि यह एक सांस्कृतिक तत्व है जो व्यवहार से जुड़ा हुआ है। भूमिका मानदंड का व्यावहारिक पक्ष है। वे लिखते हैं:

जिसेयक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुरुप संपन्न करता है उसे ही भूमिका का कार्य कहते है । लिंटन ने जब प्रस्थिति के संदर्भ में भूमिका की व्याख्या की थी तब उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा कि जिस भांति प्रस्थिति संस्कृति का एक अंग है, ठीक इसी प्रकार भूमिका भी संस्कृति का एक भाग है। वे लिखते हैं:

भूमिका शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रस्थिति से संबंधित सांस्कृतिक प्रतिमान की समग्रता के लिए किया जाता है। भूमिका के अंतर्गत वे सभी अभिवृत्तियां, सामाजिक मूल्य और व्यवहार सम्मिलित किए जाते हैं जो किसी विशेष प्रस्थिति से संबंधित व्यक्ति को समाज द्वारा प्रदान किए जाते हैं।

भूमिका का तात्पर्य कार्य से होता है। इसका निर्धारण व्यक्ति के पद अथवा प्रस्थिति के अनुसार होता है। भूमिका को प्रस्थिति से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि बिना भूमिका के किसी प्रस्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। भूमिका, वास्तव में, प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष है। विभिन्न विद्वानों ने इसकी विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। कुछ कतिपय मुख्य परिभाषाएँ इस प्रकार हैं-

इलियट एवं मैरिल के अनुसार-"भूमिका वह कार्य है जिसे वह (व्यक्ति) प्रत्येक प्रस्थिति के अनुरूप निभाता है।"

सार्जेन्ट के अनुसार-"किसी भी व्यक्ति की भूमिका सामाजिक व्यवहार का एक ऐसा प्रतिमान या प्रकार है जो विशेष परिस्थिति के अनुसार उसे समूह के अन्य लोगों की माँगों व प्रत्याशाओं के अनुरूप प्रतीत होता है।"

डेविस के अनुसार-"भूमिका किसी भी व्यक्ति के द्वारा अपनी प्रस्थिति की आवश्यकताओं के अनुसार सम्पन्न किया जाने वाला कार्य है।"

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि प्रस्थिति और भूमिका समाज की संस्कृति के भाग हैं। भूमिकाएं जो कुछ हैं, उनका संदर्भ प्रस्थिति से होता है। दूसरे शब्दों में, भूमिका को प्रस्थिति से जोड़े बिना समझा नहीं जा सकता। जो कुछ भूमिकाएं होती है, उसे करने के जो नियम-उपनियम होते हैं, वे ही मानदंड हैं। यदि भूमिका प्रस्थिति से जुड़ी होती है तो प्रत्येक भूमिका कतिपय मानदंडों से जुड़ी होती है। मानदंडों का बहुत बड़ा काम समाज की विभिन्नता को एकीकृत करना होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन भूमिकाओं को हम निभाते हैं, वे मानदंडों से बंधी होती है और इसलिए समाज को एक सूत्र में बांधती है।

7.4 भूमिका के प्रमुख तत्त्व

स्वभावतः भूमिका में निम्नलिखित दो प्रमुख तत्त्व होते हैं-

1- **प्रत्याशाएँ-** प्रत्येक प्रस्थिति का धारक इस बात को जानता है कि उससे किस आचरण की आशा अन्य सम्बन्धित प्रस्थितियों के धारक कर रहे हैं। विद्यार्थी यह जानता है कि उसके शिक्षक उससे किस आचरण की आशा करते हैं। साथ ही, उसे यह भी ज्ञात है कि शिक्षक को मालूम है कि उसके विद्यार्थी उससे किस प्रकार के आचरण की आशा करते हैं। ये पारस्परिक प्रत्याशाएँ हैं जो सामाजिक भूमिका की मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करती हैं।

2- **बाह्य व्यवहार-** केवल मानसिक स्थिति ही भूमिका के लिए पर्याप्त नहीं होती अपितु ज्ञानात्मक जागरूकता तथा अपने दायित्वों व कत्र्तव्यों को व्यवहार में अनुमोदित करना पड़ता है। इसीलिए सामाजिक भूमिका का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व आचरण की प्रत्याशा को बाह्य व्यवहार में रखा जाना है।

7.5 भूमिका की प्रमुख विशेषताएँ

भूमिका की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं-

1. भूमिकाएं प्रस्थिति में निहित हैं। प्रस्थिति को अलग रखकर भूमिका की कोई चर्चा नहीं हो सकती।

2. भूमिका शून्य में नहीं होती। उसका एक सशक्त सांस्कृतिक पहलू होता है। यह सांस्कृतिक पहलू ही मानदंड है। अतः कोई भी भूमिका हो उसके साथ में समाज के मानदंड जुड़े होते हैं।

3. मानदंड में जैसा कि हम जानते हैं, दंड व्यवस्था होती है। यह दंड व्यवस्था औपचारिक और अनौपचारिक दोनों प्रकार की होती है। इसका मतलब हुआ यदि किसी प्रस्थिति में भूमिका का निर्वाह नहीं होता तो इसके साथ दंड व्यवस्था भी जुड़ी होती है। यदि चिकित्सक या अध्यापक अपनी भूमिका को उचित तरह से संपन्न नहीं करते यानी संस्कृति के मानदंडों की अवहेलना करते हैं, तो दंड व्यवस्था के रूप में ऐसे चिकित्सकों की निंदा की जाती है और

कभी-कभी औपचारिक रूप में उन पर दावा भी ठोक दिया जाता है। दावे का आधार यह होता है कि चिकित्सक ने लापरवाही बरती और इसके लिए रोगी को खामियाजा भुगतना पड़ा। बहुत थोड़े में, भूमिका में मानदंड होते हैं। मानदंडों के पीछे दण्ड व्यवस्था होती है। और किसी प्रस्थिति में जब भूमिका का सही निर्वाह नहीं होता यानी मानदंडों की अवहेलना होती है तो प्रस्थिति धारक को किसी न किसी तरह का दंड भुगतना पड़ता है।

4. भूमिका एक पक्षीय नहीं होती। यह हमेशा सापेक्षिक होती है। प्राध्यापक की भूमिका है: अध्यापन और अनुसंधान। लेकिन यदि विद्यार्थी नहीं हुए, अनुसंधानकर्ता नहीं हुए तो प्राध्यापक की भूमिका अप्रासंगिक हो जाएगी। प्राध्यापक तो हैं लेकिन वह पढ़ाएगा किसे ? चिकित्सक तो हैं लेकिन वह किसका रोग निदान करेगा ? गाड़ीवाला तो है, पर उसकी गाड़ी में बैठने वाला कौन है ? इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रस्थिति से जुड़ी हुई भूमिका दूसरी प्रस्थितियों और उनकी भूमिकाओं से जुड़ी होती है। इसी कारण हम कहते हैं कि कोई भी भूमिका दूसरी भूमिकाओं के संदर्भ में ही संपन्न की जाती है।

5. प्रस्थिति जड़ नहीं होती, गतिशील होती है तो इसी अर्थ में भूमिकाएं भी गतिशील होती हैं। हमारे देश का प्रधानमंत्री एक प्रस्थिति में अपनी भूमिका अदा करता है। यह भूमिका प्रजातंत्र और धर्म निरपेक्षता के मानदंडों में बंधी होती है। ये मानदंड गतिहीन नहीं हैं। पिछले दिनों ब्रिटिश युग में राज्य के ये मानदंड नहीं थे। इनमें परिवर्तन आया। इसलिए प्रस्थिति और भूमिका दोनों ही गतिशील होते हैं।

7.6 प्रस्थिति एवं भूमिका में संबंध

भूमिका का संबंध प्रस्थिति विशेष के धारण करने वाले व्यक्ति के वास्तविक व्यवहार से होता है। साथ में भूमिका की अवधारणा व्यवहार से संबंधित उन अपेक्षाओं को भी बताती है जो लोग एक दूसरे से करते हैं। अतः अफसर कर्मचारी के संबंधों के संदर्भ में अफसर से एक विशेष प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा करेगा। इसके परिणाम स्वरूप कर्मचारी की भी अपनी अपेक्षाएं होंगी। यदि इन दोनों में से कोई भी एक दूसरे की अपेक्षाओं के अनुरूप कार्य न करे तो उनके संबंधों पर प्रतिकूल असर पड़ेगा। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि यदि व्यक्ति भूमिका संबंधी अपेक्षाओं को पूरा करते हैं तो समाज में व्यवहार की एकरूपता बनी रहती है।

7.7 प्रस्थिति एवं भूमिका का महत्व

भूमिका तथा प्रस्थिति का महत्व केवल व्यक्ति के जीवन में ही नहीं है बल्कि सामाजिक संबंधों में भी इसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसको निम्न आधारों पर देखा जा सकता है।

- समाजिक संगठन का आधार
- व्यक्ति की क्रियाओं का मार्ग-निर्देशन
- समाजिक श्रम विभाजन
- समाजिक जागरूकता में वृद्धि
- समाजिक नियंत्रण में योगदान
- व्यवहारों का पूर्वानुमान
- कार्यात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति
- सामाजिक मूल्यों की रक्षा

7.8 बोध प्रश्न

1- भूमिका की अवधारणा अर्थ बताइए।

2- भूमिका की किसी एक विद्वान की परिभाषा बताइए।

7.9 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप भूमिका को समझ गए होंगे। व्यक्ति अपने जीवन काल में अनेक प्रस्थितियों को धारण करता है। मुख्य रूप से प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियां होती हैं। उन्हीं के अनुरूप जब व्यक्ति अपने दायित्व या कर्त्तव्य का निर्वहन करता है तो उसे भूमिका कहते हैं। कई बार ऐसी स्थिति भी पैदा हो जाती है कि व्यक्ति के सामने भूमिका संघर्ष हो जाता है। इन सभी अवधारणाओं को हमने समझने का प्रयास किया है।

7.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दुबे, एस. एम. एवं शर्मा, दिनेश, समाजशास्त्र: एक परिचय, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली, 1989.

2. रावत, एच.के., सोशियोलॉजी: बेसिक कंसेप्ट, रावत, जयपुर, 2001.

3. दोशी एवं जैन, समाजशास्त्र: नई दिशाएं, नेशनल, जयपुर, 2002.

7.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

Cooley, C.H.,Social Organization, Glencoe :The Free Press, 1962

Davis,Kingsley, Human Society, New York:MacMillan Company,1949

Fairchild, H.P.(ed), Dictionary of Sociology,London:Vision,1958

2. रावत, एच.के., सोशियोलॉजी: बेसिक कंसेप्ट, रावत, जयपुर, 2001.

3. दोशी एवं जैन, समाजशास्त्र: नई दिशाएं, नेशनल, जयपुर, 2002.

7.12 निबंधात्मक प्रश्न

1- भूमिका से आप क्या समझते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

2- भूमिका को परिभाषित कीजिए तथा इसके प्रमुख तत्त्व बताइए।

3- प्रस्थिति एंव भूमिका में संबन्ध स्पष्ट कीजिए।

इकाई-8 संस्कृति : अर्थ, विशेषताएं, प्रकार एवं महत्व

(Culture: Meaning, Characteristics, Types & Impoortance)

इकाई की रुपरेखा

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 अर्थ एवं परिभाषाएं

8.3 संस्कृति की विशेषताएं व लक्षण

8.4 संस्कृति का स्वरूप या प्रकार

8.5 भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति में भिन्नता

8.6 संस्कृति का महत्व

8.7 सारांश

8.8 परिभाषिक शब्दावली

8.9 अभ्यास-प्रश्नों के उत्तर

8.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

8.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

8.12 निबंधात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

संस्कृति मानव समाज की धरोहर है जहां समाज में संस्कृति भी होगी। हर समाज की संस्कृति भिन्न-भिन्न होती है। बिना संस्कृति के हम किसी भी समाज की कल्पना नहीं कर सकते। संस्कृतियों द्वारा ही किसी भी समाज के व्यक्तियों के परिपाटी को समझा जा सकता है। मानव समाज इसलिए मानव है क्योंकि उसके पास संस्कृति है। संस्कृति के अभाव में मानव पशु-तुल्य हो जाता है। संस्कृति ही मानव की श्रेष्ठतम धरोहर है जिसकी सहायता से मानव पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता रहता है और प्रगति की ओर उन्मुख होता है। यदि मानव से उसकी संस्कृति छीन ली जाए तो वह मात्र पशुओं के समान प्राणी रह जाएगा। मानव और पशु में एक सबसे बड़ा अंतर एक संस्कृति का ही होता है। संस्कृति समाज में स्वतः समय के साथ संचित होती रहती है। समाज विभिन्न प्रकार के विश्वासों, प्रथाओं, नियम-कानूनों, भाषाओं और ज्ञान का भंडार होता है। संस्कृति इस समग्र के नाम को कहते हैं जो किसी भी समाज को जीवित रखने के लिए अत्यंत आवश्यक है। भाषा संस्कृति का अंग है। संस्कृति के अंतर्गत ही हम बोलचाल, तौर-तरीका और विभिन्न रीतियों को सीखते हैं। संस्कृति के अंतर्गत हम विभिन्न प्रकार के ज्ञान का संचय करते हैं जो किसी भी समाज के विकास में सहायक होता है। संस्कृति हस्तांतरित होती है। यह मानव द्वारा निर्मित होती है। हम अपने अनुकूल विभिन्न संस्कृतियों को ग्रहण करते हैं और सीखते हैं। प्रत्येक समाज व क्षेत्र की संस्कृति भिन्न-भिन्न होती है। संस्कृति में उसके सामाजिक गुण निहित होते हैं जो वहां के व्यक्ति और समाज के लिए आदर्श का काम करती है। संस्कृति मानव जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। समाज में संस्कृति के साथ मानव का अनुकूलन करने की क्षमता बनी रहती है। संस्कृति समाज को संतुलित व संगठित करती है। संस्कृति के अंतर्गत रहकर हम समाज के विभिन्न प्रचलित रीति-रिवाजों, धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान, प्रथाओं एवं व्यवहारों को सीखते हैं। इस प्रकार संस्कृति का हमारे मानव जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसके बिना समाज व व्यक्ति का व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है। अतः जहां समाज व व्यक्ति होगा वहां संस्कृति का होना भी अति महत्वपूर्ण है।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप -

- संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा जानेंगे।
- संस्कृति की विशेषताओं से अवगत होंगे ।
- संस्कृति का स्वरूप व प्रकार को स्पष्ट करेंगे।
- भौतिक व अभौतिक संस्कृति में भेद को स्पष्ट करेंगे।
- भारतीय समाज में संस्कृति का महत्व क्या है, इस पर अपना विचार प्रस्तुत करेंगे।

8.2 अर्थ एवं परिभाषाएं

संस्कृति शब्द का प्रयोग अनेक अर्था में किया जाता है। संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा से लिया गया है। संस्कृत व संस्कृति दोनों ही शब्द संस्कार से बने हैं। संस्कार का अर्थ कुछ कृत्यों की पूर्ति करना है जैसे एक हिंदू जन्म से ही अनेक प्रकार के संस्कारों को संपन्न करता है, जिसमें उन्हें विभिन्न प्रकार की भूमिकाएं निभानी पड़ती हैं। संस्कृति का अर्थ होता है, विभिन्न संस्कारों द्वारा सामूहिक जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति। यह परिमार्जन की एक प्रकिया है जो संस्कारों को संपन्न करके मानव को एक सामाजिक प्राणी बनाती है। संस्कृति सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का कुल योग है जो किसी समाज के सदस्यों की विशेषता है। संस्कृति जीवन व्यतीत करने की एक संपूर्ण विधि है जो व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों की उस समग्रता को जो किसी समूह को विशिष्टता प्रदान करती है उसे संस्कृति की संज्ञा दी गई है। अतः संस्कृति के विभिन्न अर्थों को जानने के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि जब किसी समूह के ऐतिहासिक विकास में जीवन यापन के जो विशिष्ट स्वरूप विकसित हो जाते हैं, उसे ही हम मुख्य तौर पर संस्कृति कहते हैं।

रॉबर्ट बीरस्टीड ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है, ''संस्कृति वह संपूर्ण जटिलता है जिसमें वे सभी वस्तुएं सम्मिलित हैं जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।''

पारसंस ने अपनी पुस्तक The Social System में परिभाषित करते हुए कहा है, 'संस्कृति मानव के व्यक्तित्व एवं क्रियाओं का निर्धारण करती है।'

मैकाइवर एवं पेज इन्होंने संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है 'संस्कृति मूल्यों, शैलियों, भावात्मक अभियानों का संसार है। इसलिए संस्कृति सभ्यता का प्रतिवाद है। संस्कृति हमारे रहने और सोचने के ढंगों, कार्यकलापों, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन एवं आनंद में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।'

टायलर के द्वारा संस्कृति को इस प्रकार परिभाषित किया गया है 'संस्कृति वह संपूर्ण जटिलता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, व्यवहार, कानून तथा अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश होता है जिन्हें समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।'

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। वास्तविक समाज विशेष के संपूर्ण व्यवहार प्रतिमानों अथवा समग्र जीवन विधि को ही हम संस्कृति के नाम से पुकार सकते हैं।

8.3 संस्कृति की विशेषताएं एवं लक्षण

इकाई के इस भाग के अंतर्गत आप संस्कृति की मुख्य विशेषताओं व लक्षण से अवगत होगें-

संस्कृति मानव निर्मित है- संस्कृति केवल मनुष्य समाज में पाई जाती है। मनुष्य में कुछ ऐसी मानसिक एवं शारीरिक विशेषताएं हैं जैसे- विकसित मस्तिष्क, केंद्रित की जा सकने वाली आंखें, स्वत्रंतापूर्वक घूम सकने वाले हाथ और उनमें अंगूठे की स्थिति, गर्दन की रचना आदि जो अन्य प्राणियों से भिन्न बनाती हैं और इसी कारण वह संस्कृति को निर्मित एवं विकसित कर सका, अन्य प्राणी नहीं।

संस्कृति सीखी जाती है- संस्कृति मनुष्य को अपने माता-पिता द्वारा उसी प्रकार वंशानुक्रम में प्राप्त नहीं होती, जिस प्रकार से शरीर रचना प्राप्त होती है। संस्कृति मानव के सीखे हुए व्यवहारों प्रतिमानों का योग है। एक मनुष्य अपने जीवन के साथ किसी संस्कृति को लेकर पैदा नहीं होता वरन् जिस समाज में पैदा होता है उसकी संस्कृति को धीरे-धीरे समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है।

संस्कृति हस्तांतरित की जाती है- संस्कृति चूंकि सीखी जा सकती है इसलिए ही नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के द्वारा संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करती है। इस प्रकार एक समूह से दूसरे समूह को एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी को संस्कृति हस्तांतरित की जाती है।

प्रत्येक समाज की एक विशिष्ट संस्कृति होती है- एक समाज की भौगोलिक एवं सामाजिक परिस्थितिया दूसरे समाज से भिन्न होती है। अतः प्रत्येक समाज में अपनी एक विशिष्ट संस्कृति पाई जाती है। हर समाज की आवश्यकताएं भी भिन्न-भिन्न होती हैं जो सांस्कृतिक भिन्नताओं को जन्म देती हैं। इसलिए ही हमें नगरीय, ग्रामीण, आदिम जातीय, हिंदू, मुस्लिम, पाश्चात्य एवं पूर्वी संस्कृतियां देखने को मिलती हैं।

संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होता है- संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष की देन नहीं होती वरन् संपूर्ण समाज की देन है। उसका विकास समाज के कारण ही हुआ है। समाज के अभाव में संस्कृति की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई भी संस्कृति 5, 10 या 100, 200 व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं करती बल्कि समाज यह समूहों के अधिकांश लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। संस्कृति संपूर्ण समाज की जीवन विधि का प्रतिनिधित्व करती है।

संस्कृति समूह के लिए आदर्श होती है- एक समूह के लोग अपनी संस्कृति को आदर्श मानते हैं और उसके अनुसार अपने विचारों को ढालते हैं। जब दो संस्कृतियों की तुलना की जाती है तब एक व्यक्ति दूसरी संस्कृति की तुलना में अपने आदर्श बताने का प्रयास करता है और उसकी अच्छाइयों को उल्लेख करता है।

संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है- मानव की अनेक सामाजिक, शारीरिक, मानसिक आवश्यकताएं हैं उसकी पूर्ति के लिए मानव ने संस्कृति का निर्माण किया है जो इनकी आवश्यकताओं को पूरा करती हैं।

संस्कृति में अनुकूलन करने की क्षमता होती है- संस्कृति में समय, स्थान, समाज एवं परिस्थितियों के अनुरूप अपने आप को ढालने की क्षमता होती है। परिवर्तनशीलता इनका गुण होता है। सभी परिस्थितियों में अनुकूलन करने की क्षमता इनके अन्दर होती है।

संस्कृति में संतुलन एवं संगठन होता है- संस्कृति का निर्माण विभिन्न इकाइयों से मिलकर होता है। सांस्कृतिक इकाइयां जिन्हें हम संस्कृति तत्व एवं संस्कृति संकूल कहते हैं परस्पर एक-दूसरे से बंधे हुए होते हैं। वह सभी इकाइयां संगठित रूप मे मिलकर ही संपूर्ण संस्कृति की व्यवस्था एवं संतुलन को बनाए रखती हैं।

इस प्रकार संस्कृति की विशेषताओं से अवगत होने के पश्चात् आप यह जान गये होंगे कि मुख्यतः संस्कृति मानव व्यक्तित्व के निर्माण में मौलिक आवश्यकता है। जन्म के बाद अपनी संस्कृति को सीखकर ही आत्मसात करता है। संस्कृति में प्रचलित रीति-रिवाजों, धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान, प्रथाओं, व्यवहारों आदि की छाप व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ती है।

8.4 संस्कृति का स्वरूप या प्रकार

इकाई के इस भाग में संस्कृति के स्वरूप एवं प्रकारों से अवगत होते हुए भौतिक व अभौतिक संस्कृति के बारे में जान पाएंगें जिसे ऑगर्बर्न ने स्पष्ट किया है-

भौतिक संस्कृति के अंतर्गत मानव द्वारा निर्मित सभी भौतिक एवं मूर्त वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है। मानव ने प्राकृतिक वस्तुओं और शक्तियों को परिवर्तित एवं नियंत्रित करके अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए हजार लाखों वस्तुओं को बनाया है जिसका एक भौतिक आधार होता है जो मूर्त होती हैं जिन्हें हम देख सकते हैं, छू सकते हैं और आभास कर सकते हैं। ये सभी भौतिक संस्कृति के अंग हैं। भौतिक संस्कृति में हम घड़ी, पेन, पंखा, मोटर, मशीन, औजार, वस्त्र, वाद्ययंत्र, रेल, जहाज, वायुयान, टेलीफोन आदि अनेक वस्तुओं को ले सकते हैं। भौतिक संस्कृति ने मशीनों, उपकरण, बर्तन, इमारतों, सड़को, पुलों, शिल्प वस्तुओं, कलात्मक वस्तुओं, वस्त्र, गाड़ियों, फर्नीचर, खाद्य पदार्थों एवं औषधियों आदि को सम्मिलित किया है। भौतिक संस्कृति के सभी तत्वों को गिनना आसान नहीं है। इस प्रकार संस्कृति के स्वरूपों में प्रथम स्थान भौतिक संस्कृति को दिया गया है।

अभौतिक संस्कृति के अंतर्गत उन सभी सामाजिक तथ्यों को सम्मिलित करते हैं जो अमूर्त हैं। जिनका कोई माप-तोल, आकार व रंग-रूप नहीं होता है। इनको हम छू नहीं सकते सिर्फ एहसास कर सकते हैं और महसूस कर सकते हैं जैसे- आचार-विचार, विश्वास, परंपरायें, प्रथाएं, रीति-रिवाज आदि। यह हमारे विचारों एवं कार्यों में निहित होते हैं। अभौतिक संस्कृति में विचारों एवं सामाजिक मानदंडों को सम्मिलित किया जाता है। सामान्यतः अभौतिक संस्कृति में सामाजिक विरासत से प्राप्त विचार, विश्वास, मानदंड, व्यवहार, प्रथा, रीति-रिवाज, कानून, मनोवृतियां, साहित्य, ज्ञान,

कला, भाषा, नैतिकता एवं क्षमताओं आदि को गिनते हैं। अभौतिक संस्कृति समाजीकरण एवं सीखने की प्रकिया द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है।

इस प्रकार आप संस्कृति के दोनों प्रकारों व स्वरूपों से अवगत हो गए होंगे। आधुनिक युग भौतिकवादी युग है जो भौतिक संस्कृति की देन है। भौतिक संस्कृति तेजी से आगे बढ़ते जा रही है और अभौतिक संस्कृति पिछड़ती जा रही है। भौतिक का आगे बढ़ना अभौतिक का पीछे रह जाना सांस्कृतिक विलंबना की स्थिति पैदा कर रही है।

बोध प्रश्न -1

1. संस्कृति के कितने प्रकार होते हैं?

.....
.....
.....
.....
.....

2. सांस्कृतिक विलंबना का सिद्धान्त किसने प्रतिपादित किया है?

.....
.....
.....
.....
.....

3. अमूर्त संस्कृति किसे कहते है?

.....
.....
.....
.....
.....

4. ''संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है'', किसने कहा है?

.....

.....

.....

5. वर्तमान युग की संस्कृति कौन सी है भौतिक या अभौतिक?

.....

.....

.....

8.5 भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति में भिन्नता

इकाइ के इस भाग में भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति के बीच पाई जाने वाली भिन्न्ताओं से अवगत होंगे। भौतिक संस्कृति को संस्कृति न कहे जाने का कारण यह भी है कि भौतिक संस्कृति का एक साथ कई लोग उपयोग नहीं कर सकते हैं। भौतिक संस्कृति मूर्त होती है जिसके अंतर्गत हम किसी भी वस्तु को छूकर काम कर सकते हैं जैसे किसी कलम से एक समय से एक ही व्यक्ति लिख सकता है, किसी गाड़ी को कुछ ही लोग इस्तेमाल कर सकते हैं लेकिन भाषा या धर्म जो संस्कृति है उसका एक साथ विश्व के सभी लोग प्रयोग कर सकते हैं। चाहे तो दुनिया के सभी लोग एक साथ किसी एक धर्म में विश्वास कर सकते हैं या किसी एक भाषा में सभी लोग विचार-विमर्श कर सकते हैं अर्थात् संस्कृति वह है जिसका आसानी से एक साथ बहुत लोग उपयोग कर सकते हैं। भौतिक संस्कृति का विकास तेजी से होता है और परिवर्तन की गति भी तेज होती है। भौतिक संस्कृति का संबंध मानव के बाह्य जीवन से है। भौतिक संस्कृति शीघ्र ग्रहण करने योग्य होता है। इस प्रकार आधुनिक युग भौतिकवादी युग है जो भौतिक संस्कृति की देन है।

अभौतिक संस्कृति: इसे समाजशास्त्रियों ने जीवंत या अमूर्त कहा है जिसे हम देख नहीं सकते, एहसास या अनुभव कर सकते हैं। यदि किसी संस्कृति को अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं या उसके अनुसार अपना व्यवहार करते हैं जो वह जीवंत संस्कृति कही जाती है लेकिन जब उसे कोई नहीं मानता है तो वह मृत संस्कृति बन जाती है जैसे भारत में प्राकृत एवं यूरोप में लैटिन भाषा मृत संस्कृति कही जाती है। संस्कृति की यह भी विशेषता है कि मृत संस्कृति को फिर से उसी रूप में जीवित किया जा सकता है परंतु यदि कोई भौतिक वस्तु समाप्त हो चुकी है या पुरानी पड़ गई है तो उसे हम उसी रूप में वापस नहीं ला सकते। अभौतिक संस्कृति भौतिक संस्कृति के विपरित होती है या अमूर्त होती है। इसकी गति धीमी होती है। अभौतिक संस्कृति का संबंध मानव के आंतरिक जीवन से है। अभौतिक संस्कृति में वृद्धि धीमी गति से होती है। यह शीघ्र ग्राह्य नहीं होती।

भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति में विभिन्न भिन्नताओं के बावजूद दोनों में आत्म निर्भरता पाई जाती है जब एक संस्कृति में परिवर्तन आता है तो वह दूसरी संस्कृति को भी प्रभावित करती है। अर्थात एक में विकास होने पर दूसरे में भी विकास होना अनिवार्य हो जाता है।

8.6 संस्कृति का महत्व

संस्कृति की इस इकाई के अंतर्गत आपने विभिन्न भागों का अध्ययन करने के उपरांत यह पाया होगा कि संस्कृति का मानव समाज में कितना महत्व है। हर समाज की कोई न कोई संस्कृति होती है जो समाज में सुव्यवस्था और संगठन कायम करती है जो इस प्रकार है-

संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है- संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह मानव की विभिन्न शारीरिक, सामाजिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। मानव की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही समय-समय पर अनेक आविष्कार होते रहे और वे संस्कृति के अंग बनते गए।

संस्कृति व्यक्तित्व निर्माण में सहायक है- प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी संस्कृति में जन्म लेता है। उसका पालन-पोषण किसी सांस्कृतिक पर्यावरण में ही होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति को ग्रहण करता है और अपने व्यक्तित्व में उसको आत्मसात कर लेता है। इसलिए ही कहा जाता है कि व्यक्ति संस्कृति का आत्म-वैषयिक पक्ष है। व्यक्तियों में भिन्नता संस्कृति भिन्नता के कारण ही होती है।

संस्कृति मानव को मूल्य एवं आदर्श प्रदान करती है - प्रत्येक व्यक्ति संस्कृति के आदर्शों एवं मूल्यों के अनुरूप ही समाज में व्यवहार करता है। आदर्शों एवं मूल्यों की अवहेलना करने पर व्यक्ति को सामाजिक तिरस्कार का सामना करना पड़ता है।

संस्कृति नैतिकता का निर्धारण करती है- समाज में उचित एवं अनुचित का निर्धारण संस्कृति के प्रतिमानों के आधार पर ही होता है। संस्कृति ही व्यक्ति में नैतिकता एवं उचित और अनुचित के भाव उत्पन्न करती है।

संस्कृति मानव की आदतों का निर्धारण करती है- चूंकि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी पूर्व प्रचलित संस्कृति में ही जन्म लेता है अतः संस्कृति ही व्यक्ति के खान-पान और वेशभूषा से संबंधित तथा आदतों का निर्धारण करती है।

संस्कृति व्यवहारों में एकरूपता लाती है- एक संस्कृति से संबंधित सभी व्यक्तियों के व्यवहारों, रीति-रिवाजों, प्रथाओं, लोकाचारों, मूल्यों, आदर्शों एवं नैतिकता में समानता पाई जाती है। सभी व्यक्ति उसे समान रुप से मानते हैं और उसके अनुरूप आचरण करते हैं। इससे समाज में समानता व एकरूपता पैदा होती है।

संस्कृति अनुभव एवं कार्यकुशलता को बढ़ाती है- संस्कृति का पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरण होता है अतः नई पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी का अनुभव एवं कौशल प्राप्त होता रहता है जिससे कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

संस्कृति व्यक्ति को सुरक्षित रखती है- संस्कृति में मानव व्यवहार से संबंधित सभी पक्ष पहले से निर्धारित होते हैं जिसमें पूर्वजों का अनुभव छिपा होता है। अतः उसे हर बार अपने आचरणों को तय करने के बारे में सोचना नहीं पड़ता बल्कि स्वतः ही समाज के समस्त आचरणों को सीखता जाता है और उनके अनुसार व्यवहार करता रहता है जिससे व्यक्ति को मानसिक एवं सामाजिक सुरक्षा महसूस होती है।

संस्कृति समस्याओं का समाधान करती है- संस्कृति के माध्यम से व्यक्ति के सम्मुख जब भी कोई समस्या उत्पन्न होती है या संकट आता है तो संस्कृति के प्राप्त अनुभवों के आधार पर उसका हल व सामाधान स्वयं हो जाता है। संस्कृति के अनुभवों, ज्ञान एवं नियमों के आधार पर समाज की विभिन्न समस्याओं का समाधान सरलता से हो जाता है।

संस्कृति ही प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण करती है- एक व्यक्ति अपने समाज का कौन-सा पद, कब और कहां प्राप्त करेगा या कर सकता है यह संस्कृति निर्धारित करती है। अर्जित एवं प्रदत्त प्रस्थितियों को प्राप्त करने के नियम एवं उससे संबंधित व्यक्ति की भूमिका, शक्ति, अधिकार, कर्तव्य एवं दायित्व का निर्धारण संस्कृति ही करती है। अर्जित प्रस्थिति के अंतर्गत हम अपने बुद्धिबल और ज्ञान के आधार पर अपने पदों को हासिल करते हैं परंतु प्रदत्त प्रस्थिति के अंतर्गत जन्मगत आधार पर हमारी प्रस्थितियों का निर्धारण किया जाता है जैसे- स्त्री-पुरूष, गोरा, काला।

संस्कृति समाज को नियंत्रित करती है- समाज को सुव्यस्थित ढंग से चलाने के लिए संस्कृति नियंत्रण स्थापित करती है। प्रत्येक संस्कृति में प्रथाएं, रीति-रिवाज, लोकाचार, परंपराएं आदि होते हैं जो व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहारों को तय करते हैं और व्यक्ति पर नियंत्रण बनाए रखते हैं। वैयक्तिक नियंत्रण से ही सामाजिक नियंत्रण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार संस्कृति सामाजिक नियंत्रण में सहायक होती है।

बोध प्रश्न -2

1. संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2. संस्कृति की चार विशेषताओं को लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3. भौतिक व अभौतिक संस्कृति के किन्हीं तीन भेद को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

8.7 सारांश

संस्कृति समाज की धरोहर है जो किसी समाज व व्यक्ति को सुव्यवस्थित करती है। संस्कृति के अंतर्गत हम कला, भाषा, आचार-विचार, प्रथा, रीति-रिवाज, धर्म, आदर्श, परम्पराएं, विश्वास आदि से परिचित होते हैं। संस्कृति के दो विशिष्ट पहलू माने जाते हैं जो एक-दूसरे से जुड़े हैं। एक ओर संस्कृति मनुष्य की क्षमता, कुशलता, जीवन के आदर्शों एवं प्रतिमानों को बताती है तो दूसरी ओर वह मनुष्य की भौतिक उपलब्धियों को भी बताती है जिससे मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल होते हैं। संस्कृति के प्रमुख घटक के रूप में हम विभिन्न माध्यमों से समाज को परिवर्तित व विकसित करने में प्रौद्योगिकी, आर्थिक संगठन, राजनीतिक संगठन, सामाजिक संगठन, कला, भाषा आदि को बढ़ावा देते हैं। संस्कृति की मुख्य बात है कि यह समय के साथ स्वतः संचित होती रहती है। संस्कृति को विशिष्टता प्रदान करने में कई मुख्य गुण हैं जो इसे समाज में सुव्यवस्थित करती है। संस्कृति मानव समाज द्वारा निर्मित है, इसे हम किसी न किसी प्रकार से सीखते हैं। संस्कृति का हस्तांतरण भी होता है। हम एक जगह से दूसरी जगह की संस्कृतियों का आदान-प्रदान करते हैं परंतु प्रत्येक समाज की एक विशिष्ट संस्कृति होती है जिसमें सामाजिक गुण

निहित होता है। यह समूह के लिए आदर्श होती है। मानव समाज की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति जैसे- सामाजिक, शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताएं भी पूरी करती है।

संस्कृति संतुलित व संगठित होता है। संस्कृति के दो प्रकार भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति हमारे समाज को परिवर्तित करते हैं। भौतिक संस्कृति आधुनिकता की देन है, अभौतिक संस्कृति प्राचीनता की। भौतिक संस्कृति के युग में हम तरक्की की हर वस्तु का निर्माण कर रहे हैं जैसे- शिक्षा का आधुनिकीकरण, तकनीकी सुविधा के अंतर्गत मशीनरी वस्तुओं का उपयोग, विलासिता की वस्तुएं जैसे-पंखा, टीवी, कूलर, ए.सी., फ्रिज, टेलीफोन, वायुयान, वाद्ययंत्र, रेल, जहाज, पेन, मोटर, मशीन, घड़ी, औजार आदि का उपयोग कर रहे हैं वहीं अभौतिक संस्कृति जो अमूर्त है जिसे हम देख नहीं सकते सिर्फ अनुभव या एहसास कर सकते है जैसे- विश्वास, आचार-विचार, व्यवहार, प्रथा, रीति-रिवाज, मनोवृत्तियां, ज्ञान, कला, भाषा, नैतिकता, क्षमताओं आदि का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार आज भौतिक संस्कृति का विकास तेजी से होता जा रहा है और अभौतिक संस्कृति पिछड़ती जा रही है जिससे सांस्कृतिक विलंबना की स्थिति उत्पन्न हो रही है।

8.8 परिभाषिक शब्दावली

भौतिक संस्कृति- के अंतर्गत वे चीजें आती हैं जिसका मनुष्य स्वयं निर्माण करता है जैसे- मकान, मोटर, घड़ी, पुस्तक, कलम, चश्मा, गाड़ी, जहाज, टेबल, कुर्सी आदि यह आधुनिकता का वर्तमान प्रतीक हैं।

सास्कृतिक विलंबना - अभौतिक संस्कृति की तुलना में भौतिक संस्कृति जब आगे बढ़ जाती है और अभौतिक संस्कृति पिछड़ जाती है तो इसे ही आर्गबर्न ने सांस्कृतिक विलंबना कहा है।

प्रौद्योगिकी- यह मानव की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव निर्मित यंत्रों, उपकरणां और शिल्पकला के संबंध में बताता है।

8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

1. दो प्रकार, भौतिक तथा अभौतिक
2. आर्गबर्न ने
3. अभौतिक संस्कृति अमूर्त है।

4. हरस्कोविट्स

5. भौतिक संस्कृति (आधुनिकता का स्वरूप)

बोध प्रश्न-2

1. इस प्रश्न के उत्तर इकाई के 8.2 भाग को पढ़कर लिखिए।

2. इस प्रश्न के उत्तर के लिए इकाई के 8.3 भाग को पढ़कर लिखिए।

3. भौतिक संस्कृति मूर्त होती है/अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है।

8.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

Benedict, Ruth, Patterns of Culture, Houghton.k Mffilin Co.k. Boston, 1934.

Beals, Ralph L.k. and Hoijer, Harry, An Introduction to Anthropology, New York, Macmillan, 1956.

Linton, Ralph, The Study of Man, New York, Appleton-Century-Crofts, 1964.

Ogburn, William F., Social Change, New York, Viking, 1922.8.11

8.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय समाज व संस्कृति- रवींद्र नाथ मुकर्जी (विवेक प्रकाशन)।

2. ग्रामीण समाजशास्त्र - जी.के. अग्रवाल (विवेक प्रकाशन)।

3. यूनीफाइड समाजशास्त्र- रवींद्र नाथ मुकर्जी, भरत अग्रवाल (विवेक प्रकाशन)।

4. Social Work - G.R.k Madan, Vivek Prakashan

5- Rural Sociology – V.N.k Singh, Vivek Prakashan

6- Rural & Urban Sociology ,G.K. Agarwal, SEPD,Agra

7- Indian Society & Culture – R.N. Mukherjee,Vivek Prakashan.

8.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. संस्कृति से आप क्या समझते हैं संस्कृति की विशेषताओं को बताते हुए संस्कृति के स्वरूप को समझाइए।

2. संस्कृति का अर्थ समझाते हुए संस्कृति के महत्व का वर्णन कीजिए।

इकाई-9 मानदण्ड: अर्थ, विशेषताएं एवं प्रकार

(Norms: Meaning, Characteristics & Types)

इकाई की रूपरेखा

9.0 परिचय

9.1 उद्देश्य

9.2 मानदंड की अवधारणा

9.3 मानदंड की विशेषताएं

9.4 मानदंड के प्रकार

9.4.1 - निर्देशात्मक मानदंड

9.4.2 - निषेधात्मक मानदंड

9.4.3 - लोकरीतियों एवं उनकी विशेषताएं

9.4.4 - लोकाचार एवं उनकी विशेषताएं

9.5 बोध प्रश्न

9.6 सारांश

9.7 लघु उत्तरीय प्रश्न

9.8 निबन्धात्मक प्रश्न

9.9 पारिभाषिक शब्दावली

9.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

9.0 परिचय

समाज में रहने वाले प्रत्येक प्राणी से आशा की जाती है कि वह समाज के नियम कानून एवं प्रथा या पंरपरा को अवश्य जाने। जिसे सामाजिक भाषा में मूल्य, मानदंड एवं प्रथा कहते हैं। इस इकाई में हम इन सामाजिक शब्दों को विस्तार से जानेंगे या अध्ययन करेंगे। मानदंड शब्द से तात्पर्य समाज के वे नियम हैं। जो सांस्कृतिक विशेषताएं, सामाजिक मूल्यों और समाज द्वारा स्वीकृत विधियों के अनुसार किसी विशेष परिस्थिति में व्यक्ति को एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने का निर्देश देते हैं.

9.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः-

- मानदंड की अवधारणा के बारे में जान सकेंगे।
- मानदंड की विशेषताओं के बारे में जान सकेंगे।
- मानदंड के प्रकारों के बारे में आप जान सकते हैं।

9.2 मानदंड की अवधारणा

प्रत्येक समाज के अंतर्गत कुछ ऐसे पूर्व निर्धारित मानदंड या आदर्श पाए जाते हैं, जिन्हें ध्यान में रखकर ही लोग व्यवहार करना पसंद करते हैं। समाज अपने सदस्यों के लिए कुछ इस ढंग का मानदंड निर्धारित कर देता है जिसका पालन समाज की अपेक्षा होती है, उसे ही समाजशास्त्रीय भाषा में आदर्श या मानदंड (Norms) कहा जाता है। मानदंड़ के माध्यम से समाज व्यक्तियों के व्यवहार का निर्धारण करता है। यह सामाजिक नियंत्रण का एक प्रमुख उपकरण है। मानदंड सामाजिक संरचना का एक प्रमुख तत्व है जो सामाजिक संरचना का संचालन करता है। यहां ध्यान देने का बात यह है कि बहुत लोग मानदंड को एक सांख्यिकी Statistical Average मानते हैं। समाज में मानदंड की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि इससे लोगों को ज्ञान होता है कि किस परिस्थिति में उन्हें कौन-सा व्यवहार करना चाहिए और कौन सा नहीं। प्रत्येक समाज में किसी न किसी प्रकार के मानदंड की आवश्यकता अवश्य होती है क्योंकि कोई भी समाज मानदंड के अभाव में कभी नहीं चल सकता है। मानदंड समाज में व्यक्तियों के व्यवहार का संचालक है।

मानदंड के पालन के संबंध में एक दूसरी स्थिति यह है कि समाज के तमाम लोग समान रूप से उस मानदंड का पालन नहीं करना चाहते हैं। लेकिन समाज यह चाहता है कि हर सदस्य समान रूप से मानदंड का अनुसरण करे। मानदंडों का

अनुकरण कराने के लिए समाज में दंड-विधान (Sanction) की व्यवस्था होती है। जो लोग इसका अनुकरण करते हैं, समाज उन्हें शाबाशी देता है और जो लोग इसका उल्लंघन करते हैं, समाज उन्हें विभिन्न प्रकार से दंडित करने का प्रयास करता है। दंड-विधान औपचारिक (Formal) एवं अनौपचारिक (Informal) दोनों हो सकता है। आधुनिक समाज में दंड विधन के लिए पुलिस एवं न्यायालय की व्यवस्था होती है जिसके माध्यम से व्यक्तियों के व्यवहार में अनुकूलता (Conformity) लाई जाती है। जुर्माना, कैद या फांसी की सजा औपचारिक नकारात्मक दंड-विधान (Formal Negative Sanction)के उदाहरण हैं। अच्छा काम करने वालों को कभी कोई उच्च जिम्मेदारी का पद दिया जाता है । तो कभी प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति की ओर से किसी खास अवसर पर सम्मानित भी किया जाता है। इसे औपचारिक सकारात्मक दंड-विधान (Formal Positive Sanction) कहा जाता है। किसी मानदंड के पीछे यदि दंड व्यवस्था नहीं रहे तो समाज में लोगों के व्यवहार में अनुकूलता (Conformity) पैदा करना मुश्किल हो जाएगा और इस स्थिति में समाज अव्यवस्था या अराजकता (Anarchy) की स्थिति में पहुंच जायेगा। इसी अवस्था को Emile Durkheim ने मानदंड शून्यता (Anomie Normlessness) कहा है।

मानदण्ड की परिभाषाएँ

डेविस (Davis) के अनुसार–"मानदण्ड नियन्त्रण है। ये वे तत्त्व हैं जिनके द्वारा मानव समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों का नियमन इस प्रकार करता है कि वे सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए अपनी क्रियाओं का सम्पादन करते रहें और कभी–कभी सावयवी आवश्यकताओं के मूल्य पर भी।"

शेरिफ एवं शेरिफ (Sherif and Sherif) के अनुसार–"जीवन और उसके उन्नयन के विविध कार्यों में संलग्न व्यक्तियों की अन्तर्क्रिया के बीच समूह की संरचना का जन्म होता है, व्यक्ति विभिन्न कार्य करते हैं और प्रत्येक की एक सापेक्ष परिस्थिति हो जाती है। कार्य संचालन का क्रम और उनके नियमों का स्वरूप स्थिर हो जाता है। इस प्रकार नियम, व्यवहार के तरीके तथा अनुकरणीय जीवन मूल्य आदि सामूहिक अन्तर्क्रिया के ही सह–उत्पादन हैं। नियमों, मानकों और मूल्यों के इस विशिष्ट गठन को समूह के सामाजिक आदर्शों के रूप में माना जाता है।"

बीरस्टीड (Bierstedt) के अनुसार–संस्कृति के द्वितीय दीर्घ तत्त्व के रूप में प्रतिमानों का वर्ग नियमों, सम्भावनाओं और मानव कार्य–प्रणालियों को सम्मिलित करता है। उनके शब्दों में, "एक आदर्श, संक्षेप में प्रक्रिया का मानकी प्रतिरूप है। अपने समाज के लिए स्वीकार करने योग्य कुछ करने का तरीका है।"

9.3 मानदंड की विशेषताएं

मानदंड की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं-

- मानदंडों को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है। मानदंडों के निर्माण में व्यक्ति की भूमिका गौण होती है। इसका निर्माण और विघटन दोनों सामुदायिक या सामाजिक स्तर पर होता है, व्यक्ति विशेष के स्तर पर नहीं।
- मानदंडों का समाज में समय के साथ स्वतः विकास होता है। कानून को छोड़कर अन्य तमाम मानदंडों का विकास किसी योजना के तहत नहीं होता है। कोई सामाजिक मानदंड कब और कहां विकसित हुआ यह उस समाज के लोगों को नहीं मालूम होता है।
- मानदंड औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही हो सकता है। औपचारिक मानदंड लिखित होता है और अनौपचारिक मानदंड अलिखित और मौखिक होता है।
- मानदंड सापेक्षिक रूप से ज्यादा स्थायी होता है। कुछ लोगों की कोशिश के बावजूद मानदंडों में आसानी से परिवर्तन नहीं हो पाता है।
- मानदंडों पर अमल करने के लिए प्रत्येक समाज में किसी-न-किसी प्रकार का दंड-विधान होता है। जो लोग मानदंडों का उल्लंघन करते हैं, समाज उन्हें दंडित करने का प्रयास करता है। दूसरी तरफ जो लोग मानदंडों को ध्यान में रखकर अच्छा व्यवहार करते हैं, समाज उन्हें पारितोष या शाबाशी देता है।
- मानदंड सामाजिक नियंत्रण के एक अभिकरण के रूप में काम करता है। प्रत्येक समाज की अपेक्षा यह होती है कि उसका प्रत्येक सदस्य समान परिस्थिति में समान आचरण करे।
- मानदंड व्यक्तियों के लिए समाज में प्रकाश स्तंभ का काम करता है। मानदंड व्यक्तियों को यह निर्देश देता है कि उसे कौन-सा आचरण करना है और कौन-सा नहीं करना है।
- मानदंडों का संबंध सामाजिक नैतिकता से भी है। इसे हम विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक तर्कों के आधार पर सही या गलत नहीं सकते हैं, क्योंकि मानदंडों के अनुसार सामाजिक उपयोगिता एवं आवश्यकताएं स्वतः विकसित एवं परिवर्तित होती रहती हैं।

9.4 मानदंड के प्रकार

मानदंड दो प्रकार के होते हैं-

9.4.1 निर्देशात्मक मानदंड (Prescriptive Norms)

9.4.2. निषेधात्मक मानदंड (Proscriptive Norms)

9.4.1 निर्देशात्मक मानदंड

जिस मानदंड से हमारा आचरण निर्देशित होता है, उसे निर्देशात्मक मानदंड कहा जाता है लेकिन समाज यदि यह मानता है कि लोगों को अपने माता-पिता का आदर करना चाहिए तो उसे निर्देशात्मक मानदंड कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, समाज जो नहीं करने की इजाजत देता है उसे निषेधात्मक मानदंड कहा जाता है और जो व्यवहार समाज अपने सदस्यों को खास ढंग से संपादन करने की अपेक्षा रखता है। उसे निर्देशात्मक मानदंड कहा जाता है। निर्देशात्मक एवं निषेधात्मक मानदंड में क्या फर्क है।

9.4.2 निषेधात्मक मानदंड

जो मानदंड हमें किसी आचरण को करने की इजाजत नहीं देता है उसे निषेधात्मक मानदंड कहा जाता है। जैसे प्रत्येक आधुनिक समाज यह अपेक्षा रखता है कि सार्वजनिक स्थानों पर किसी को नग्न नहीं घूमना चाहिए। यह एक निषेधात्मक मानदंड का उदाहरण है।

समाज में कुछ वैसे भी मानदंड होते हैं जो सार्वभौम होते हैं। समाज के हरेक सदस्य को उस मानदंड के अनुसार ही आचरण करना है। वैसे आदर्श या मानदंड को सामुदायिक मानदंड (Communal Norms) कहा जाता है। दूसरी तरफ समाज में कुछ वैसे भी मानदंड होते हैं जो समाज के विभिन्न उपखंडों के स्तर पर पाए जाते हैं, उसे बीयरस्टेट ने सहचारी मानदंड (Associational Norms)कहा है। जैसे भारतीय समाज में अपने गुरूजनों को प्रणाम करना सामुदायिक मानदंड (Communal Norms) कहा जाता है। हिंदुओं के द्वारा जनेऊ धारण करना एक सहचारी मानदंड (Associational Norms) है, क्योंकि हिंदु समाज में तमाम जातियों के लिए समान रूप से यह आवश्यक नहीं रहा है।

जो आज सामुदायिक मानदंड हैं, वह कल सहचारी मानदंड भी हो सकता है। उसी तरह जो आज सहचारी मानदंड है, वह कल सामुदायिक मानदंड भी हो सकता है। कभी ऐसा भी होता है कि सामुदायकि मानदंड एवं सहचारी मानदंड समय के साथ समाप्त हो जाता है और उसकी जगह कोई नया सामुदायिक मानदंड एवं सहचारी मानदंड स्थापित हो जाता है।

कुछ समाजशास्त्रियों ने मानदंड को एक दूसरे ढंग से वर्गीकृत किया है, जैसे-

वास्तविक मानदंड ;(Real Norms) एवं **नैतिक मानदंड** (Idealized Norms) जैसे-यदि यह कहें कि अहिंसा परम धर्म है, झूठ नहीं बोलना चाहिए या हमें पूरी ईमानदारी से काम करना चाहिए। तो इसे नैतिक मानदंड कहा

जाएगा। लेकिन व्यवहार में हम कुछ और ही करते हैं। क्रोध में हम थोड़ा हिंसक भी हो जाते हैं, अपने किसी खास उद्देश्य की पूर्ति के लिए झूठ भी बोल लेते हैं या कभी हम अपने कार्य में पूरी निष्ठा नहीं रखते हैं। समाज ऐसे साधरण नैतिक विचलनों को सहन करता है। कर्त्ता को इसके लिए कोई विशेष दंड नहीं दिया जाता है। यह भी एक किस्म का सामाजिक मानदंड है। इस प्रकार वास्तविक जीवन के आचरण को हम वास्तविक मानदंड कहते हैं।

9.4.3 लोकरीतियां एवं उनकी विशेषताएं

दुनिया का प्रत्येक समाज विभिन्न प्रकार के सामाजिक नियम-कानूनों से चलता है, जिसे समाजशास्त्र के क्षेत्र में मानदंड (Norms) कहा जाता है। अमेरिकन समाजशास्त्री समनर, (Wiiliam Gram Sumner) ने तमाम सामाजिक नियम-कानूनों, मान्यताओं एवं दस्तूरों को दो भागों में विभाजित किया, जिसे लोकरीतियां (Folways) एवं लोकाचार (Mores)कहा है। दूसरी तरफ हम यहां यह देख रहे हैं कि लोकरीति मानदंड का एक हिस्सा मात्रा हैं।

लोकरीति का शाब्दिक अर्थ होता है, आम लोगों के रीति-रिवाज । मनुष्य की आवश्यकताएं अनंत हैं और उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह बहुत तरह के नियमों का निर्माण या आविष्कार करता रहा है, लेकिन नियमों का विकास भौगोलिक एवं आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में ही होता है, इसीलिए हर समाज की अलग-अलग लोकरीतियां होती हैं।

समनर ने बताया है कि लोकरीतियों का तात्पर्य व्यवहार के उन अपेक्षित एवं संचित तरीकों से है जो एक विशेष परिस्थिति में सामाजिक क्रियाओं की आवश्यकता को पूरा करने के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोकरीतियों की उत्पत्ति विचारपूर्ण ढंग से होती है तथा समस्त सामाजिक समूह उसे स्वीकार करता है। समाज प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा रखता है कि किस परिस्थिति में उसे किस ढंग से व्यवहार करना चाहिए। व्यवहारों की अपेक्षा हर समाज में अलग-अलग प्रकार की होती है। इसीलिए प्रत्येक समाज की अपनी-अपनी लोकरीतियां होती हैं। किसी व्यक्ति को किस प्रकार बैठकर भोजन करना चाहिए, किसी से मिलने पर किस ढंग से अभिनंदन करना चाहिए, विदाई के समय कैसा व्यवहार करना है, किस अवसर पर किस प्रकार का वस्त्र पहनना है, महिलाओं के साथ पुरूषों का व्यवहार कैसा होगा, बच्चे बड़ों के साथ किस प्रकार बातचीत करेंगे, इस प्रकार के हजारों अपेक्षित व्यवहारों को लोकरीति कहा जाता है। सामाजिक संरचना की हिफाजत लोकरीति समाज की सांस्कृतिक बुनियादी ढांचे को बनाए रखने में मदद करता है। इसके द्वारा हम अपनी आवश्यकताओं को सहजतापूर्वक पूरा करते हैं। लोकरीति के माध्यम से समाज और संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट होता है। आचरण में सहजता व्यक्तियों को किस परिस्थिति में कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका ज्ञान लोकरीति के माध्यम से होता है। इतना ही नहीं, लोगों को लोकरीति के द्वारा यह भी मालूम होता है कि किस समय कौन-सा काम करना चाहिए, किस काम को कैसे करना चाहिए, कौन-सा काम उचित और

कौन-सा अनुचित है इत्यादि। लोकरीति एक प्रकार का प्रारूप है, जिसके आधार पर व्यक्ति समाज में आचरण करता है।

लोकरितियों की विशेषताएं-

एक स्वीकृत विधि के रूप में- लोकरीति समाज की एक स्वीकृत विधि का नाम है। हर समाज ने अपने अनुभवों के आधार पर एक लम्बे समय में यह तय किया है कि किस अवसर पर किसी व्यक्ति के लिए कौन-सा व्यवहार सही होगा, ऐसा समाज ने अपने हितों की हिफाजत के लिए किया है। जिस सामाजिक व्यवहार को समाज स्वीकृत नहीं करता, उसे लोकरीति नहीं कहा जा सकता। लोकरीति कहे जाने के लिए यह जरूरी है कि समाज के अधिकांश लोग उसे स्वीकार करते हों।

लोकरीति एक गत्यात्मक परंपरा है- चूंकि लोकरीति का आधार परंपरागत आचार एवं व्यवहार है इसीलिए हमें यह नहीं मानना चाहिए कि वह एक स्थिर व्यवस्था है। लोकरीतियां समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती हैं। कुछ लोकरीतियां पुरानी होकर समाप्त हो जाती हैं, तो कुछ पहले से ज्यादा प्रचलित हो जाती हैं, कभी-कभी नई लोकरीतियां भी समाज में पैदा हो जाती हैं। आमतौर पर लोकरीतियों की परंपरा एकदम समाप्त नहीं होती। पुरानी लोकरीतियों के साथ नई लोकरीतियां जुड़ जाती हैं। इस तरह लोकरीति निरंतर विकसित और संग्रहीत होती रहती हैं।

एक सांस्कृतिक तत्व के रूप में- लोकरीति संस्कृति का एक प्रमुख तत्व है। हर संस्कृति में अलग-अलग प्रकार की लोकरीतियां पायी जाती हैं। लोकरीतियों के आधार पर हम एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति को अलग कर सकते हैं। यह विश्व की हर संस्कृति में पाई जाती हैं। अर्थात् लोकरीति संस्कृति का एक विश्वव्यापी तत्व है।

एक अमूर्त व्यवस्था- लोकरीति एक अमूर्त सामाजिक व्यवस्था है। इसे हम आचार-व्यवहार में देख सकते हैं, पर इसका कोई भौतिक स्वरूप नहीं होता है। यह एक व्यक्तिनिष्ठ तथ्य (Subjective Phenomenon) है। इसकी उत्पत्ति संपूर्ण सामाजिक चिंतनशैली एवं व्यवहार से होती है। समाज के कुछ लोगों के व्यवहार से लोकरीति नहीं बनती। जबतक समाज के तमाम लोग उसे अच्छा मानकर स्वीकार नहीं करते, तबतक कुछ व्यक्तियों के व्यवहार को लोकरीति नहीं कहा जा सकता।

सामाजिक संरक्षण- हर लोकरीति को सामाजिक संरक्षण प्राप्त होता है। चूंकि समाज अपनी लोकरीति में विश्वास रखता है इसीलिए उसका विरोध् करने वालों का समाज विरोध करता है। जो लोग अपने समाज की लोकरीतियों का उल्लंघन करते हैं, उसे समाज अच्छे व्यक्ति के रूप में नहीं लेता है। कभी समाज उसकी निंदा करता है, तो कभी समाज उसे हलके-फुलके ढंग से दंडित करने का भी प्रयास करता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि लोकरीति की हिफाजत में

ही समाज अपनी हिफाजत देखता है। लोकरीति के आधार पर समाज व्यक्तियों का समाजीकरण Socialization करता है। इस तरह समाजीकरण के द्वारा लोकरीति और सामाजिक संरचना को एक निरंतरता मिलती है।

9.4.4 लोकाचार एवं उनकी विशेषताएं

लोकरीति की तरह लोकाचार पर भी सबसे पहले अमेरिकन समाजशास्त्री समनर ने ही विचार किया था। उन्होंने अपनी पुस्तक Folkways में पहली बार लोकाचार More को Folway से अलग किया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि हरेक समाज कुछ खास किस्म के नियमों से चलता है। उन्हीं नियमों में कुछ वैसे नियम भी होते हैं, जिन्हें समाज किसी को तोड़ने की इजाजत नहीं देता है। उन्हें तोड़ना समाज बिल्कुल अनैतिक मानता है। अतः इन नियमों को तोड़ने वाले को समाज दंड भी देता है। वैसे तमाम नियमों को समनर ने लोकाचार कहा है। जैसे- उत्तर भारत के हिंदू समाज में चचेरे, ममेरे एवं फुफेरे भाई-बहनों के बीच शादी-विवाह वर्जित है। जो लोग इस नियम-कानून का उल्लंघन करेंगे, समाज उन्हें वहिष्कार कर दंडित करता है। इसलिए लोग इस ढंग के लोकाचार का उल्लंघन करने की हिम्मत नहीं जुटा पाते हैं।

मैकाइवर एवं पेज ने लोकाचार के बारे में कहा है कि लोकाचार एक प्रकार का व्यक्तियों के आचरण का नियंत्रक है। लोकाचार को हमेशा समाज के द्वारा सही और नैतिक माना जाता है। लोकाचार एक ऐसा नैतिक नियम या मूल्य है, जिसे समाज कभी भी टूटते हुए नहीं देख सकता है। चूंकि लोकाचार को समाज के तमाम व्यक्ति की स्वीकृति रहती है इसीलिए उसके टूटने से समाज में बेचैनी होती है। लोकाचार को समाज अपने स्थायित्व का आधार मानता है। उसे तोड़ने वाले को समाज विभिन्न तरह से दंडित करने का प्रयास करता है। यदि कोई व्यक्ति समाज के प्रचलित तरीकों के खिलाफ अपने ढंग से वस्त्र पहनता है तो उसे लोकरीति का उल्लंघन माना जाएगा पर यदि कोई नंगा होकर सड़क पर घूमने का प्रयास करता है तो उसे लोकाचार का उल्लंघन कहा जाएगा। इस ढंग के अभद्र व्यवहार को समाज पूरी तरह अनैतिक मानता है। समाज वैसे लोगों की निंदा करेगा या कुछ लोग ऐसे लोगों को गाली देंगे तो कुछ लोग उन पर ढेला-पत्थर भी फेंक सकते हैं। दूसरे शब्दों में लोकरीति जब पूरी तरह समाज के लिए नैतिक एवं लाभकारी मानी जाती है तो लोकरीति लोकाचार का स्थान ग्रहण कर लेती है। लोकरीति और लोकाचार में इतना ही फर्क है कि लोकचार का उल्लंघन करने वाले को समाज अधिक से अधिक दंड देने का प्रयास करता है। लोकरीति के साथ कोई बहुत नैतिकता की बात नहीं होती है, पर लोकाचार को पूरी तरह नैतिक माना जाता है। लोकाचार का उल्लंघन एक प्रकार का निषेध माना जाता है।

यह सत्य है कि हर समाज में कुछ-न-कुछ लोकाचार अवश्य पाया जाता है, पर यह कोई जरूरी नहीं है कि जो एक जगह लोकाचार है वही दूसरी जगह पर लोकाचार हो। जैसे-मुसलमानों के बीच चचेरे, एवं फुफेरे भाई-बहनों के बीच शादी करना लोकाचार का उल्लंघन नहीं है। उत्तर भारत के हिंदुओं के बीच मामा-भगिनी के बीच विवाह लोकाचार

का उल्लंघन है, जबकि दक्षिण भारत के हिंदुओं के बीच मामा-भगिनी का विवाह लोकाचार का समर्थन है। ऐसे लोकाचार बहुत कम हैं जो विश्व स्तर पर स्वीकार किए जाते हों। भाई-बहन, मा-बेटे या पिता-पुत्री के बीच वर्जित यौन-संबंध विश्वव्यापी लोकाचार के कुछ सीमित उदाहरण हैं-

यहां यह भी उल्लेख करना आवश्यक लगता है कि समय के साथ लोकरीति लोकाचार बन जाती है और लोकाचार लोकरीति।

लोकाचार भी एक प्रकार की लोकरीति है लेकिन यह आम किस्म की लोकरीति नहीं है। जब लोकरीति के साथ सामाजिक हित की बात जुड़ जाती है, तब उसे लोकाचार कहा जाता है। भारतीयों के द्वारा धोती और पायजामा पहनना एक प्रकार का लोकाचार है। उसी तरह हिंदुओं के द्वारा टीका लगाना, चोटी रखना या जनेऊ पहनना एक प्रकार की लोकरीति है। चोटी न रखना या धोती की जगह पतलून पहनना या चंदन-टीका नहीं करना, यह मात्रा लोकरीति का उल्लंघन है, लेकिन दूसरी तरफ निर्वस्त्र रहना, दो विभिन्न जातियों के बीच शादी करना या किसी वैचारिक मतभेद के चलते माता-पिता के साथ गलत व्यवहार करना लोकाचार का उल्लंघन है।

लोकचार का पालन करना अनिवार्य माना गया है। इसकी अवहेलना दंडनीय है। लोकाचार एक प्रकार का नैतिक मूल्य है। लोकाचार में समाज-कल्याण की भावना छिपी होती है इसीलिए तो कहा जाता है कि लोकरीति-सामाजिक कल्याण की भावना लोकाचार।

लोकाचार की विशेषताएं

सामाजिक नियंत्रण के एक साधन के रूप में- लोकाचार के द्वारा व्यक्तियों का व्यवहार समाज में निर्धारित होता है। चूंकि लोकाचार आचरण का एक प्रकार का प्रतिमान है इसीलिए समाज यह अपेक्षा रखता है कि प्रत्येक व्यक्ति उसके अनुरूप व्यवहार करे। व्यक्तियों को अपने आचरण के बारे में यह सोचने की आवश्यकता नहीं रहती है कि उसे क्या करना है या क्या नहीं करना है। वह सामाजिक दबाव वश सामाजिक प्रतिमान के अनुरूप व्यवहार करता है।

समूह कल्याण की भावना- हरेक लोकाचार में समूह कल्याण की भावना छिपी होती है। प्रत्येक समाज यही मानता है कि उस समाज की भलाई इसी में है कि समाज के तमाम लोग एक लंबे समय से प्रचलित लोकाचार में विश्वास रखें।

नैतिक नियमों का समूह- लोकाचार समाज में प्रचलित नैतिक नियमों का समूह है, यह वैसे नैतिक नियमों का समूह है जिसके पीछे समाज का अधिकतम बल होता है। यही कारण है कि लोकाचार के पालन नहीं करने वाले लोगों को समाज दंडित करता है।

तार्किकता का अभाव- लोकाचार में तार्किकता का अभाव होता है। व्यक्ति को इस बात पर विचार करने की आजादी नहीं होती है कि यह नैतिक नियम सही है या गलत। समाज में चले आ रहे परंपरागत नियमों का उसे हर परिस्थिति में पालन करना होता है। समाज में रहने के कारण व्यक्ति अपने समाज के मूल्यों को बाध्य होकर स्वीकार करता है।

एक कठोर नियम- समाज बहुत तरह के नियमों से चलता है और जो नियम सबसे कठोर माना जाता है उसे ही लोकाचार कहा जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि साधारण नियमों को लोकरीति की श्रेणी में रखा जाता है। किसी नियम के कठोर होने की पहचान यही है कि समाज उसका उल्लंघन करने वाले को कितना दंडित करता है।

एक सामाजिक स्वरूप- लोकाचार का स्वरूप सामाजिक होता है। यह समय के साथ स्वतः समाज में विकसित होता है। समाज में इसका विकास और संचयन धीरे-धीरे चलता रहता है। राज्य के द्वारा बनाए गए कानूनों को लोकाचार नहीं कहा जा सकता है। लोकाचार से कानून की उत्पत्ति तो होती है पर कानून से शायद ही लोकाचार की उत्पत्ति होती है।

व्यक्ति और समाज के बीच एक कड़ी के रूप में- लोकाचार व्यक्ति को समाज से जोड़ता है। जो लोग लोकाचार के अनुसार समाज में चलते हैं, उन्हें समाज अच्छा मानता है। जो लोग इसका विरोध करते हैं, उन्हें समाज अपना दुश्मन या पागल समझता है। लेकिन कभी-कभी महान क्रांतिकारी व्यक्ति लोकाचार विरोधी होते हैं और समाज उन्हें बुरा मानता है।

समाज में व्यक्तियों का व्यवहार मुख्य रूप से लोकरीतियों एवं लोकाचार से निर्धारित होता है। लेकिन राज्य के अंतर्गत नागरिकों के व्यवहार का नियंत्रण राज्य के कानून से होता है। कानून आधुनिक समाज की प्रमुख विशेषता है क्योंकि प्रत्येक आधुनिक समाज के साथ राज्य अवश्य जुड़ा हुआ होता है। जिस प्रकार लोकाचार और लोकरीतियों का निर्माण समाज में स्वतः होता है, कानून का निर्माण उस तरह नहीं होता है। कानून तो कहीं कुछ लोग बैठकर सोच-समझकर, योजना (तरीके से) बनाते हैं। यह सही है कि कानून का निर्माण राजनीतिक नेताओं के द्वारा होता है, लेकिन इसका निर्माण सामाजिक नियम-कानून को ध्यान में रखकर ही किया जाता है, क्योंकि जो कानून सामाजिक मूल्यों एवं मान्यताओं का विरोधी होता है, समाज उसका विरोध करता है।

लोकरीतियों और लोकाचार के विपरीत आमतौर पर कानून लिखित होते हैं और जरूरत पड़ने पर न्यायपालिका इसका विश्लेषण करती है। न्यायपालिका का मुख्य काम राज्य के कानूनों को अमल कराना, इसका विश्लेषण करना है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि लोकरीतियों और लोकाचार का सहज ढंग से विकास होता है। जैसे किसी व्यक्ति को कैसे बैठना चाहिए, कैसे वस्त्र पहनने चाहिए या किस प्रकार भोजन करना चाहिए । तमाम ऐसी विभिन्न किस्म की लोकरीतियों का स्वतः विकास हुआ है। इनका विकास हमेशा सामाजिक अंतः क्रिया के द्वारा होता है। लेकिन कानून को विधानसभाओं और संसदों के माध्यम से निर्मित किया जाता है और न्यायालयों एवं पुलिस के माध्यम से उस पर अमल किया जाता है। राज्य सीधे रूप में अपने सदस्यों को कानून पालन करने के लिए बाध्य करता है, लेकिन लोकरीति एवं लोकाचार का पालन करवाने के लिए समाज आमतौर पर अप्रत्यक्ष ढंग से लोगों को बाध्य करता है।

कानून राज्य का औपचारिक मानदंड है। यह प्रत्येक आधुनिक समाज की विशेषता है। कानूनी मानदंड के पीछे राज्य की शक्ति होती है। आधुनिक समाज में जेल भेजना, जुर्माना लगाना, मौत की सजा सुनाना इत्यादि कानूनी मानदंडों को लागू करने का अधिकार केवल राज्य को ही प्राप्त है। कानून प्रायः रीति-रिवाजों एवं मूल्यों की व्युत्पत्ति होती है, परंतु सामाजिक मानदंड कानून का रूप तभी धारण करता है जब राज्य का उसे समर्थन प्राप्त होता है। संविधान अध्यादेश एवं औपचारिक व्यवस्था ;या नौकरशाही व्यवस्था की तमाम नियमावली एवं परंपरा कानून के अंतर्गत आती है।

सामान्यतया कानून का स्वरूप औपचारिक होता है। चूंकि कानून विभिन्न प्रकार के नियमों की तुलना में काफी विकसित और जटिल होता है, इसलिए यह आमतौर पर लिखित होता है। कानून को हम मुख्य रूप से दो भागों में बांट सकते हैं- (1) प्रथागत कानून एवं (2) पारित कानून । जिन कानूनों को सामाजिक प्रथाओं, मानदंडों, आदर्शों एवं विभिन्न प्रकार के नैतिक मूल्यों को ध्यान में रखकर विकसित किया जाता है, उन्हें प्रथागत कानून कहते हैं, जैसे- भारत में Hindu Law एवं Muslim Law प्रथागत कानून के उदाहरण हैं। प्रथागत कानून हमेशा लिखित ही नहीं होते हैं। बहुत सारे आदिम जातियों के बीच भी प्रथागत कानून पाए जाते हैं जिन्हें अभी तक संहिता का स्वरूप नहीं दिया गया है।

जटिल या आधुनिक समाजों के अंतर्गत पारित कानूनों की प्रधानता होती है। आधुनिक समाजों में भाषा एवं लिपि के विकास के कारण कानूनों का स्वरूप लिखित होता है। विधान-सभाओं, विधान परिषदों एवं संसदों के द्वारा जिन कानूनों का निर्माण किया जाता है, वे तमाम पारित कानून कहलाते हैं। पारित कानून हमेशा किसी निश्चित योजना के तहत किसी खास समय में विकसित किया जाता है। कार्यपालिका के द्वारा इसको लागू किया जाता है और न्यायपालिका के द्वारा इसकी रक्षा की जाती है। पारित कानून जितनी आसानी से योजनाबद्ध तरीके से निर्मित होता है, उतनी ही आसानी से योजनाबद्ध तरीके से परिवर्तित भी होता है। कानून आधुनिक राज्य का एक ऐसा अभिकरण है

जिससे उस राज्य में रहने वाले तमाम लोगों का आचरण नियंत्रित और निर्धारित होता है। भारत का संविधान पारित कानून का एक उदाहरण है।

9.5 बोध प्रश्न

1- मानदंड की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

2- मानदंड को परिभाषित कीजिए?

9.6 सारांश

इस इकाई के अंतर्गत हमने मूल्य मानदंड एवं प्रथा के विषय में जानकारी प्राप्त की और प्रथाओं का समाज के लिए क्या महत्व है उसको जाना । सर्वप्रथम इसमें हमने मानदंड को जाना एवं उसकी विशेषताओं को जाना, विशेषताओं को समझा और यह जाना कि मूल्य एवं मानदंड समाज के स्थायित्व के लिए महत्वपूर्ण हैं। सामाजिक संरचना में आदर्शों का मत्त्वपूर्ण स्थान है।

9.7 लघु उत्तरीय प्रश्न

2. मानदंड की विशेषताएं समझाएं ?

3. मानदंड क्या है एवं उसके प्रकार बताइए ?

4. लोकरीति एवं लोकाचार में अंतर बताइए ?

9.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मानदंड की अवधारणा स्पष्ट कीजिए एवं इसकी विशेषताएं बताइए ?

2. मानदंड को परिभाषित कीजिए? उसके प्रकार बताइए ?

3. लोकाचार एवं उनकी विशेषताएं को स्पष्ट कीजिए।

9.9 पारिभाषिक शब्दावली

1.	मानदंड	-	सामाजिक नियम कानून
2.	विघटन	-	बिखराव
3.	निषेधात्मक मानदंड	-	जिससे आचरण निर्देशित
4.	लोकरीति	-	आम लोगों का रीति रिवाज
5.	लोकाचार	-	ऐसे नियम जिनको तोड़ने पर समाज दंड देता है

9.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मैकाइवर, आर.एम. एंड पेज, चार्ल्स एच., समाज का परिचायत्मक विश्लेषण, न्यू देल्ली, मैकमिलन इंडिया लि-1985.।

2. बीयर स्टीड, रार्बट, दा सोशल आर्डर, न्यू देल्ली, टाटा मेग्राहिल 1970.।

3. राधा कमल, मुखर्जी, मूल्यों की सामाजिक संरचना, लंदन मैकमिलन एंड कंपनी 1949.।

4. ए, गिड़िस, सोशियोलॉजी, दा ब्लैक वेल पब्लिशर्स, कैंब्रिज।

5. जे.पी, सिंह, समाजशास्त्र अवधारणाएं एवं सिद्धांत,प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया प्राइवेट लि. नई दिल्ली 2009.।

इकाई-10 मूल्य: अर्थ, विशेषताऐं एवं प्रकार
(Values, Meaning] Characteristics & Types)

इकाई की रूपरेखा

10.0 परिचय

10.1 उद्देश्य

10.2 मूल्य की अवधारणा

10.3 मूल्य की विशेषताएं

10.4 मूल्य के प्रकार

10.4.1 - नैतिक मूल्य

10.4.2 - बुद्धिसंगत मूल्य

10.4.3 - सौंदर्य परक मूल्य

10.5 बोध प्रश्न

10.6 सारांश

10.7 लघु उत्तरीय प्रश्न

10.8 निबन्धात्मक प्रश्न

10.9 पारिभाषिक शब्दावली

10.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

10.0 परिचय

मूल्य समाज के प्रमुख तत्त्व हैं तथा इन्हीं मूल्यों के आधार पर हम किसी समाज की प्रगति, उन्नति, अवनति अथवा परिवर्तन की दिशा निर्धारित करते हैं। इन्हीं मूल्यों द्वारा व्यक्तियों की क्रियाएँ निर्धारित की जाती हैं तथा इससे समाज का प्रत्येक पक्ष प्रभावित होता है। सामाजिक मूल्यों के बिना न तो समाज की प्रगति की कल्पना की जा सकती है और न ही भविष्य में प्रगतिशील क्रियाओं का निर्धारण ही सम्भव है। मूल्यों के आधार पर ही हमें यह पता चलता है कि समाज में किस चीज को अच्छा अथवा बुरा समझा जाता है। अतः सामाजिक मूल्य मूल्यांकन का भी प्रमुख आधार हैं। विभिन्न समाजों की आवश्यकताएँ तथा आदर्श भिन्न-भिन्न होते हैं, अतः सामाजिक मूल्यों के मापदण्ड भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः-

- मूल्य की अवधारणा के बारे में जान सकेंगे।
- मूल्य की विशेषताओं के बारे में जान सकेंगे।
- मूल्यों के प्रकारों के बारे में आप जान सकते हैं।

10.2 मूल्य की अवधारणा

मूल्य 'जो होना चाहिए' से संबंधित एक विचार का नाम है। यह हमारे विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को प्रभावित करता है। मूल्य व्यक्ति के व्यक्तित्व और सामाजिक व्यवस्था के साथ बहुत गहराई से जुड़ा होता है। मूल्य जीवन के उद्देश्यों और उन्हें प्राप्त करने के साधनों को स्पष्ट करता है। हमारी तमाम सामाजिक गतिविधियां मूल्यों से जुड़ी होती हैं। समाजशास्त्र में मूल्य एक प्रकार का मानदंड है पर साधारण मानदंड को हम मूल्य नहीं कहते हैं । जो उच्च कोटि के मानदंड होते हैं उन्हें ही जॉनसन ने मूल्य कहा है। सामाजिक मूल्य से हमें यह ज्ञात होता है कि कौन सा आचरण समाज के लिए सबसे अधिक अपेक्षित है। मूल्य के साथ हमेशा यह भाव जुड़ा हुआ होता है कि समाज के लिए सबसे अधिक जरूरी क्या है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो मानदंड समाज के लिए सबसे अधिक वांछनीय हैं उसे ही मूल्य कहा जाता है।

जो हमें यह बताता है कि क्या सही है, क्या गलत है, क्या वांछनीय है, क्या अवांछनीय है, क्या अच्छा है, क्या बुरा है, वही मूल्य कहलाता है। इन्हीं विचारों को हम ध्यान में रखकर समाज में आचरण करते हैं। मूल्यों का स्वरूप अमूर्त होता है। मूल्य समाज के आदर्श होते हैं। समाज के तमाम सदस्यों का अपने समाज के मूल्यों के प्रति एक संवेगात्मक

संबंध होता है। प्रत्येक हिंदू अपने धार्मिक मूल्यों के अनुसार व्यवहार यह मानकर कर रहा है कि यही सही आदर्श है। उसी प्रकार मुस्लिम भी अपने ही मजहब को ध्यान में रखकर रोजमर्रे की जिंदगी में व्यवहार कर रहे हैं। वही उनके समाज का आदर्श है। यदि लोगों को अपने मूल्यों के प्रति संवेगात्मक लगाव नहीं हो तो लोग अपने सांस्कृतिक मूल्यों के अनुसार व्यवहार नहीं करेंगे।

मूल्य के साथ चार प्रमुख बातें हैं जिसे गहराई से समझने के लिए हमें ध्यान में रखना चाहिए।

1. मूल्य कई स्तरों पर पाया जाता है, इस अर्थ में कि कुछ मूल्य सापेक्षिक रूप से ज्यादा अमूर्त होते हैं तो कुछ कम। प्रजातंत्र के अंतर्गत विभिन्न प्रकार की स्वतंत्रता का विरोध् करने का अधिकार एक सामान्य प्रकार का मूल्य है। ईश्वर सर्वव्यापी या सर्वशक्तिमान है, यह एक प्रकार का अमूर्त सामाजिक मूल्य है।

2. मूल्यों को उसकी महत्ता के आधार पर श्रेणीबद्ध किया जा सकता है क्योंकि तमाम मूल्य समान महत्व के नहीं होते हैं। जैसे-झूठ नहीं बोलना चाहिए, हमें रोज भगवान का ध्यान करना चाहिए इत्यादि। हिंदुओं के लिए यह मूल्य उतना प्रमुख नहीं है जितना यह कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही धर्मया जाति में विवाह करना चाहिए।

3. कुछ मूल्य काफी स्पष्ट होते हैं तो कुछ अस्पष्ट। अर्थात तमाम मूल्य समान रूप से स्पष्ट नहीं होते हैं। जैसे-हमें बड़ों का आदर करना चाहिए। यह मूल्य उतना स्पष्ट नहीं है क्योंकि हम अपने से प्रत्येक बड़े व्यक्ति का समान रूप से आदर करने के लिए समाज में बाध्य नहीं हैं। व्यवहार में उम्र के साथ-साथ उनकी जाति, धर्म, शिक्षा और पेशा को ध्यान में रखकर ही अपने से बड़ों के प्रति आचरण करते हैं। दूसरी तरफ, हिंदु समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही जाति में विवाह करना है, यह हिंदु समाज का एक स्पष्ट और निश्चित मूल्य है।

कभी-कभी एक मूल्य दूसरे मूल्य के विरोधी भी होते हैं। समाज जितना बड़ा होता है वहां मूल्यों के बीच संघर्ष भी उतना ही अधिक होता है। विभिन्न मूल्यों के बीच अक्सर संघर्ष होता है। जैसे- भारत एक धर्म प्रधान देश है। यहां सहिष्णुता, भाईचारा, ईमानदारी इत्यादि का पाठ पढ़ाया जाता है लेकिन भौतिकवादी मूल्यों के कारण हम धन इकट्ठा करने के लिए उन सारे मूल्यों को नकार देते हैं। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए हम कुछ भी गलत करने को तत्पर हो जाते हैं। जातीय और धार्मिक उन्माद में फंसकर हम भाईचारे और सहिष्णुता के मूल्यों को श्रद्धांजलि दे बैठते हैं।

4. मूल्य कभी भी स्थिर नहीं होता है। समय और परिस्थितियों के बदलाव के साथ उसमें परिवर्तन आता रहता है। जैसे एक समय था जब भारत के लोग संभवत: काफी नैतिक और धार्मिक हुआ करते थे। गलत काम करने के पहले उन्हें कई बार सोचना पड़ता था। किसी बात पर निर्णय लेते समय वे यह ध्यान रखते थे कि वे जो कर रहे हैं वह धर्म – विरुद्ध है या नहीं। उन्हें इस बात की चिंता होती थी कि अनैतिक काम करने पर उन्हें नरक जाना होगा। आज उसी

समाज में लोगों के दिमाग में परमात्मा, स्वर्ग और नरक की बात शायद ही आती है। अधिकांश लोग इतने भौतिकवादी हो गए हैं कि शक्ति और संपत्ति हासिल करने के लिए कोई भी गलत काम करने से नहीं हिचकते हैं।

एच0 एम0 जानसन (H. M. Johnson) के अनुसार-"मूल्य को एक धारणा या मानक के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और इसके द्वारा चीजों की एक-दूसरे के साथ तुलना की जाती है, इसे स्वीकृति या अस्वीकृति प्राप्त होती है, एक-दूसरे की तुलना में उचित-अनुचित, अच्छा या बुरा, ठीक अथवा गलत माना जाता है।"

रोबर्ट बीरस्टीड (Robert Bierstedt) के अनुसार-"जब किसी समाज के स्त्री-पुरुष अपने ही तरह के लोगों के साथ मिलते हैं, काम करते हैं या बात करते हैं, तब मूल्य ही उनके क्रमबद्ध सामाजिक संसर्ग को सम्भव बनाते हैं।"

10.3 मूल्य की विशेषताएं

मूल्य की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार होती हैं-

- मूल्यों का कोई स्वरूप नहीं होता है क्योंकि यह एक संज्ञानात्मक तत्व है। इसका स्वरूप अमूर्त होता है। यह अगोचर और सामान्यतया अलिखित होता है। यह मनुष्यों के सामाजिक व्यवहार में परिलक्षित होता है। यह सामूहिक महत्व की आवधारणा है। इसके निर्माण में समस्त समाज की भागीदारी होती है। यह एक लंबे समय तक चलने वाली सामाजिक अंतः क्रिया का फल है। समाज नियोजित ढंग से इसका निर्माण नहीं करता है। यह समाज के विभिन्न सदस्यों को एक दूसरे से जोड़ने का भी काम करता है।

- मूल्य एक सामाजिक मानक होता है। यह लक्ष्मण रेखा की तरह है। उसका उल्लंघन करने वाला सामाजिक मर्यादा का विरोधी माना जाता है। इसके आधार पर किसी व्यक्ति का आचरण अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित, वांछित या अवांछित करार किया जाता है। यह साधारण मानदंड से काफी ऊपर के स्तर का मानक है। मूल्यों के प्रति समाज का एक संवेगात्मक लगाव होता है। मूल्यों को तोड़ने वाले व्यक्तियों को समाज दंडित करता है। यह जरूरी भी है क्योंकि मूल्य समाज का लक्ष्य माना जाता है। जैसे- तमाम जीवों से प्यार जैन धर्म का एक प्रमुख मूल्य है। जीव हिंसा करने वाले व्यक्तियों के लिए जैन धर्म में कोई स्थान नहीं है। हिंदु नारियां अपने स्त्रीत्व की रक्षा के लिए अपने आपको बलिदान करने के लिए तैयार रहती हैं। यह उनके जीवन के मूल्यों के साथ संवेगात्मक लगाव का परिणाम है।

- मूल्यों से समाज में एकता की भावना का संचार होता है। समान मूल्य को मानने वाले लोग समान परिस्थिति में समान व्यवहार करते हैं। जब हमारे देश पर किसी बाहरी शत्रु का आक्रमण होता है तो मूल्यों की समानता के कारण हम तमाम लोग मर-मिटने को तैयार हो जाते हैं।

- मूल्य सापेक्षिक रूप से स्थिर होता है। मूल्यों में परिवर्तन आसानी से नहीं होता है। कोई भी समाज आसानी से बदलना नहीं चाहता है। जहां तक संभव होता है समाज अपने मूल्यों की हिफाजत की पूरी कोशिश करता है। मूल्यों में परिवर्तन से सामाजिक परिवर्तन होना निश्चित हो जाता है। मूल्य सामाजिक नियंत्रण के एक अभिकरण के रूप में कार्य करता है।

  मूल्यों में सामाजिक कल्याण की एक भावना छिपी होती है। समाज अपने मूल्यों में अटूट विश्वास रखता है क्योंकि समाज के हितों को संरक्षण मिलता है। मूल्यों का टूटना या बिखरना सामाजिक विघटन का एक प्रमुख सूचक है। मूल्य सामाजिक संरचना को बनाए रखने में मदद करता है। मूल्यों के माध्यम से समाज के सदस्यों के बीच संतुलन बना रहता है।

10.4 मूल्य के प्रकार

सामान्यतौर पर मूल्यों को हम तीन भागों में बांट सकते हैं, जिनकी संक्षेप में यहां चर्चा की जा रही है-

10.4.1 नैतिक मूल्य

प्रत्येक समाज के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के नैतिक मूल्य पाए जाते हैं। इस नैतिकता का संबंध उस समाज के धर्म एवं विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों से होता है। नैतिक मूल्यों के साथ कोई वैज्ञानिकता की बात नहीं होती। वे सामूहिक तौर पर ऐसे स्वीकृत मानदंड होते हैं जिनका समाज बहुत ही कड़ाई से पालन करता है। लोगों को उसे अपने स्तर पर स्वीकार करने या न करने की छूट नहीं होती है। नैतिक मूल्य एक व्यक्ति विशेष से लेकर समस्त समाज पर समानरूप से लागू होते हैं, जैसे-माता-पिता का आदर करना चाहिए, चोरी नहीं करनी चाहिए, हिंदुओं को गौ-मांस नहीं खाना चाहिए, निकट संबंधियों के साथ यौन व्यभिचार नहीं करना चाहिए। यह तमाम हिंदु समाज के कुछ प्रमुख नैतिक मूल्यों में से हैं। समाज ऐसे मूल्यों को तोड़ने की इजाजत किसी को नहीं देता है, लेकिन कुछ ऐसे मूल्य हर समाज में पाए जाते हैं जिनका उल्लंघन होने पर समाज में बहुत नाराजगी नहीं जताई जाती है, जैसे- झूठ नहीं बोलना चाहिए। इस मूल्य के विपरीत हम धड़ल्ले से कुछ-न-कुछ झूठ हर रोज बोलते रहते हैं।

10.4.2 -बुद्धिसंगत मूल्य

सामान्यतया सामाजिक मूल्यों का संबंध विवेक से नहीं होता, क्योंकि समाज अपने अनुभवों से एक लंबे समय में इनका स्वतः निर्माण करता है। मूल्यों के साथ कोई तर्क की बात नहीं होती है। यह तो एक प्रकार का सामूहिक विश्वास है। लेकिन विज्ञान के विकास के परिणामस्वरूप आधुनिक समाज में धीरे-धीरे विवेकपूर्ण मूल्यों का विकास हो रहा है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार से हमारे चिंतन में वैज्ञानिकता आ रही है। एक समय था जब हमारा आचरण एवं विचार भाग्यवादी मूल्यों से कुछ ज्यादा ही प्रभावित था। हरेक व्यक्ति भाग्य के भरोसे ही कुछ पाने की बात सोचता था। लेकिन आधुनिक समाज में इस मूल्य में बदलाव आया है और उसकी जगह मेहनत और आत्मविश्वास पर काफी जोर दिया जा रहा है। आज लोग भाग्य के भरोसे न बैठकर कठिन-से-कठिन परिश्रम करने को तैयार हैं। कठिन परिश्रम एवं उच्च मनोबल आधुनिक समाज का महत्वपूर्ण बुद्धिसंगत मूल्य है।

10.4.3 -सौंदर्यपरक मूल्य

विभिन्न प्रकार की साहित्यिक कृतियों, संगीत, विभिन्न प्रकार की कलाओं, रंग-रूप इत्यादि से संबंधित विचार सौंदर्यपरक मूल्य कहे जाते हैं। प्रत्येक समाज के अंतर्गत सौंदर्य के अलग-अलग पहलू और स्वरूप हैं। भारतीय समाज में पतली कमर, लंबे घने काले बाल, गोरा रंग आदि नारियों के सौंदर्य का प्रतीक है, तो पाश्चात्य देशों में नारियों की सुंदरता का प्रतीक उनके सुंदर पैर और सुनहरे बाल हैं। दूसरी तरफ चीनी समाज में नारियों को पैर छोटा होना उनकी सुंदरता का प्रतीक है। उसी प्रकार विभिन्न समाज के अंतर्गत अलग-अलग किस्म के संगीत, हस्तकला, शिल्पकला एवं भवन निर्माण कला के स्वरूप पाए जाते हैं। इन विभिन्नताओं के पीछे सौंदर्यपरक मूल्यों की विभिन्नता है। अन्य प्रकार के मूल्यों की तरह सौंदर्यपरक मूल्य भी समय के साथ धीरे-धीरे बदलते रहते हैं और उसकी जगह नए प्रकार के सौंदर्यपरक मूल्य स्थापित होते रहते हैं। अन्य मूल्यों की तरह यह भी सर्वव्यापी मूल्य है।

10.5 बोध प्रश्न

1- मूल्य की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

2- मूल्य को परिभाषित कीजिए?

10.6 सारांश

इस इकाई के अंतर्गत हमने मूल्य के विषय में जानकारी प्राप्त की और मूल्य का समाज के लिए क्या महत्व है उसको जाना। इसमें हमने मूल्य को जाना एवं उसकी विशेषताओं को जाना, विशेषताओं को समझा और यह जाना कि मूल्य समाज के स्थायित्व के लिए महत्वपूर्ण हैं। सामाजिक संरचना में आदर्शों एवं मूल्यों का मत्त्वपूर्ण स्थान है। मूल्यों से ही हमें पता चलता है कि कौन सा कार्य उचित है अथवा अनुचित है। प्रत्येक समाज की संस्कृति में निरन्तरता एवं स्थायित्व इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति अपनी प्रस्थितियों के अनुरुप भूमिकाओं का निष्पादन करते है अथवा नहीं उनको व्यवहार समाज द्वारा मान्य मूल्यों के अनुरुप होता है अथवा नहीं।

10.7 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मूल्य क्या है ? स्पष्ट कीजिए।

2. मूल्य को परिभाषित कीजिए ?

3. मूल्य की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

10.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मूल्य को परिभाषित कीजिए ? एवं प्रकार का संक्षेप में वर्णन करें।

2- मूल्य की अवधारणा स्पष्ट कीजिए एवं इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

10.9 पारिभाषिक शब्दावली

1. मूल्य - समाज के आदर्श

2.	नैतिक मूल्य	-	धर्म एवं परिस्थितियों से होता है
3.	बुद्धिसंगत मूल्य	-	सामूहिक विश्वास
4.	सौंदर्यपरक मूल्य	-	साहित्यिक कृतियां, संगीत आदि

10.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मैकाइवर, आर.एम. एंड पेज, चार्ल्स एच., समाज का परिचायत्मक विश्लेषण, न्यू देल्ली, मैकमिलन इंडिया लि-1985.।

2. बीयर स्टीड, रार्बट, दा सोशल आर्डर, न्यू देल्ली, टाटा मेग्राहिल 1970.।

3. राधा कमल, मुखर्जी, मूल्यों की सामाजिक संरचना, लंदन मैकमिलन एंड कंपनी 1949.।

4. ए, गिड़िस, सोशियोलॉजी, दा ब्लैक वेल पब्लिशर्स, कैंब्रिज।

5. जे.पी, सिंह, समाजशास्त्र अवधारणाएं एवं सिद्धांत,प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया प्राइवेट लि. नई दिल्ली 2009.।

इकाई-11 सामाजिक संरचना: अर्थ, विशेषताऐं एवं विविध स्वरूप

(Social structure: Meaning, Characteristics and Various Forms)

इकाई की रूपरेखा

11.0 परिचय

11.1 उद्देश्य

11.2 सामाजिक संरचना का अर्थ

11.3 संरचना की परिभाषा

11.4 सामाजिक संरचना की विशेषताएं

11.5 सामाजिक संरचना के विविध स्वरूप

10.6 बोध प्रश्न

10.7 सारांश

10.8 लघु उत्तरीय प्रश्न

10.9 निबन्धात्मक प्रश्न

11.10 संदर्भ ग्रंथ

11.0 प्रस्तावना

संरचना की अवधारणा समाजशास्त्र व मानवशास्त्र दोनों विषयों की महत्वपूर्ण अवधारणा मानी जाती है। समाज सतत गतिशील है। बदलते सामाजिक परिवेश में संरचना व व्यवस्था दो समाज की ऐसी इकाइयां हैं जो मानव समाज को एक आकार देकर उसकी नींव मजबूत बनाती हैं। सामाजिक संबंधों की अंतर्निभरता, निकटता, विलगाव, विघटन इत्यादि का अध्ययन संरचना व व्यवस्था को समझे बिना नहीं किया जा सकता है।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे -

- संरचना का अर्थ
- सामाजिक संरचना की परिभाषा व उसकी विशेषताएं
- सामाजिक संरचना के विविध स्वरूप

11.2 सामाजिक संरचना का अर्थ

संरचना किसी भी समग्र का वह भाग होती है जिसकी विभिन्न इकाइयां क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित होकर उस समग्र को एक आकार प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए यदि मानव शरीर को एक समग्र के रूप में लें तो इस शरीर रूपी संरचना का निर्माण इसकी विभिन्न इकाइयां (अंगों) - आंख, नाक, कान, हाथ, पैर, मुंह , और अन्य कई अंग परस्पर मिलकर ही करते हैं। ठीक उसी प्रकार एक मकान की संरचना का निर्माण, ईंट, गारा, चूना, पत्थर आदि इकाइयों के परस्पर, सम्मिलित एवं क्रमबद्ध व्यवस्था से मिलकर होता है।

समाजशास्त्र में 'सामाजिक संरचना' शब्द का प्रयोग सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक घटनाओं अथवा सामाजिक प्रक्रियाओं के निश्चित क्रम के लिए किया जाता है। 'सामाजिक संरचना' शब्द का प्रयोग अन्य मिलते–जुलते शब्दों; जैसे 'सामाजिक संगठन', 'सामाजिक व्यवस्था', 'प्रतिमान' अथवा 'सम्पूर्ण समाज' के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया जाता है, इसलिए इसका कोई एक निश्चित अर्थ देना एक कठिन कार्य हो जाता है। फिर भी, अधिकांश समाजशास्त्री 'सामाजिक संरचना' शब्द का प्रयोग व्यवस्थित (Orderly) अथवा प्रतिमानित (Patterned) ढंगों के लिए करते हैं जिनसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह परस्पर एक–दूसरे से अपने आपको सम्बन्धित करते हैं। इन सम्बन्धों को संरचित अथवा संगठित कहने का अभिप्राय यह कदापि नहीं होता कि इन्हें अग्रिम रूप में ही नियोजित कर लिया गया था, अपितु सामाजिक संरचना का प्रथम आधार व्यक्तियों की अन्तर्क्रियाओं में दैनिक अनुकूलन तथा परिवर्तन का परिणाम है क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों को समाज में रहने वाले व्यक्ति की क्रियाओं द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है।

11.3 संरचना की परिभाषा

संरचना को विभिन्न समाज वैज्ञानिकों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। यहां पर संदर्भगत विषय को और अधिक स्पष्ट करने तथा पाठकों की सामान्य समझ हेतु कुछ परिभाषाएं निम्नवत हैं –

जिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "सामाजिक संरचना का अध्ययन सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात् समूहों के प्रकारों, समितियों, सदस्यों, संस्थाओं तथा इनकी जटिलता, जिनसे समाज का निर्माण होता

है, के रूप में किया जा सकता है। सामाजिक संरचना का सम्पूर्ण विवरण हमें तुलनात्मक संस्थाओं के सम्पूर्ण क्षेत्र की समीक्षा द्वारा प्राप्त हो सकता है।"

मैनहिम (Mannheim) के अनुसार, "सामाजिक संरचना परस्पर अन्तर्क्रिया करने वाली उन सामाजिक शक्तियों के ताने–बाने को कहते हैं जिनके परिणामस्वरूप अवलोकन करने तथा सोचने–विचारने के तरीके विकसित होते हैं।"

स्मेलसर (Smelser) के अनुसार, "सामाजिक संरचना को भूमिकाओं के उन परिचित प्रतिमानों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि मुख्य रूप से सामाजिक कार्य अथवा क्रिया की पूर्ति के लिए संगठित हैं।"

रैडक्लिफ–ब्राउन (Radcliffe-Brown) के अनुसार, "सामाजिक संरचना को सुविधाजनक रूप से परिभाषित करने के लिए कहा जा सकता है कि सामाजिक संरचना व्यक्तियों के बीच वह क्रम है जो उनके निश्चित सम्बन्धों अथवा संस्थागत रूप से नियन्त्रित सम्बन्धों में प्रकट होता है।"

मैकाइवर एवं **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार, "समूह निर्माण के विभिन्न तरीके संयुक्त रूप में सामाजिक संरचना के जटिल प्रतिमानों का निर्माण करते हैं।....सामाजिक संरचना के विश्लेषण में सामाजिक जीवों की विभिन्न प्रवृत्तियाँ और हित व्यक्त होते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से सामाजिक संरचना का विशिष्ट अर्थ स्पष्ट होता है और इसकी महत्ता का भी पता चलता है। सामाजिक संरचना का निर्माण अन्तर्क्रिया के परिणामस्वरूप व्यक्तियों में विकसित सामाजिक सम्बन्धों द्वारा होता है।

11.4 सामाजिक संरचना की विशेषताएं

किसी भी सामाजिक संरचना का एक विशिष्ट आकार होता है, जिसके आधार पर उस संरचना को पहचाना जाता है या उस इकाई विशेष को संरचना का नाम दिया जाता है। किंतु यह आकार मानवीय व्यवहार एवं संबंधों के संदर्भ में मूर्त न होकर अमूर्त होता है, जो व्यवहार विशेष के संदर्भ में जानी जाती है। सामाजिक संरचना की कुछ प्रमुख विशेषताएं ,गुप्ता व शर्मा ने बाताई हैं। जो निम्नवत हैं -

1. **सामाजिक संरचना समाज के बाह्य स्वरूप का बोध कराती है** - समाज सामाजिक संबंधों के द्वारा निर्मित एक व्यवस्था है, किंतु इस व्यवस्था की संरचना का निर्माण समाज की विभिन्न इकाइयों के परस्पर एवं क्रमबद्ध सम्मिलन से ही संभव है। परिवार रूपी सामाजिक संरचना को सदस्यों के बीच पाए जाने वाले सामाजिक संबंधों, व्यवहारों तथा विवाह एवं नातेदारी के आधार पर ही समझा जाता है। सामाजिक संरचना का संबंध सामाजिक इकाइयों की कार्य - विधि से नहीं है।

2. **सामाजिक संरचना अखंड व्यवस्था नहीं है -** प्रत्येक सामाजिक संरचना का निर्माण कई इकाइयों से होता है। ये इकाइयां व्यक्ति, समूह, संस्थाएं, समितियां आदि हैं। इस प्रकार एक संरचना विशेष का निर्माण कई खंडों

या इकाइयों से मिलकर होता है, अतः वह अखंड नहीं है। स्वरूप स्पष्टता ही संरचना के प्रतिमान को उजागर करती है। उदाहरण के लिए, एक कमरे का निर्माण ईंट, चूना, पत्थर, खिड़की व दरवाजे आदि से मिलकर होता है। इन्हें एक विशिष्ट क्रम में जोड़ने पर कमरे का प्रतिमान स्वरूप प्रकट होता है।

3. **सामाजिक संरचना अंतर्संबंधित इकाइयों का एक व्यवस्थित स्वरूप है** - सामाजिक संरचना में समरूपता महत्वपूर्ण स्थान रखती है अर्थात समग्र की इकाइयों में पारस्परिक संबंध एवं क्रमबद्धता का पाया जाना आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए घड़ी का निर्माण करने वाली सभी इकाइयों को परस्पर जोड़ने पर ही घड़ी की संरचना बनती है।

4. **सामाजिक संरचना की इकाइयों में एक क्रमबद्धता पाई जाती है** - व्यवस्थित आकार किसी संरचना की वास्तविक पहचान होता है। संरचना की विभिन्न इकाइयां परस्पर क्रमबद्ध रूप से संबद्ध होकर ही विशिष्ट रचना का निर्माण करती हैं जैसे ईंट, चूने व पत्थर के ढेर से मकान नहीं बनता है जब तक उन्हें एक क्रम में न जोड़ा जाए। मकान की उपसंरचनाएं जैसे बरामदा, खिड़की, आंगन, छोटा कमरा, बड़ा कमरा इत्यादि के लिए भी निश्चित क्रम में इसके विभिन्न अवयव मिलकर इसे एक बृहद संरचना का नाम देते हैं। प्रत्येक संरचना का आकार व बनावट इकाइयों की विशिष्ट क्रमबद्धता के आधार पर ही किया जाता है।

5. **सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत एक स्थायी अवधारणा है** - स्थायित्व प्रत्येक सामाजिक संरचना को एक महत्वपूर्ण विशेषता होती है जिसके आधार पर अर्थपूर्ण व्यवस्था का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न समूह, समितियां एवं सस्थाएं जैसे परिवार, धर्म, आर्थिक व शैक्षणिक संगठन एवं विवाह आदि समाज में अपेक्षतया स्थायी रूप से पाए जाते हैं। कोई भी ज्ञात मानव समूह परिस्थिति जन्य एवं समयगत परिवर्तन के बावजूद किसी न किसी प्रकार की पारिवारिक संरचना का अंग बना रहता है जो समाज व्यवस्था को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे ले जाने के लिए महत्वपूर्ण होता है। रीति-रिवाजों, परंपराओं, वैवाहिक संबंधों, नातेदारी, रीतियों की परस्पर संबद्धता ही पारिवारिक संरचना को स्थायित्व प्रदान करती हैं।

6. **सामाजिक संरचना अमूर्त होती है** - समाज वैज्ञानिकों मैकाइवर एवं पारसंस आदि का स्पष्ट मत है कि सामाजिक संरचना एक अमूर्त धारणा है। सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न संस्थाओं, एजेंसियों, प्रतिमानों, परिस्थितियों एवं भूमिकाओं से मिलकर होता है। ये सभी इकाइयां अमूर्त हैं इनका भैतिक वस्तु की भांति कोई ठोस आकार या रूप नहीं है, इन्हें देखा या छुआ नहीं जा सकता है। इन अमूर्त संगठकों के घटक स्वयं मनुष्य ही होते हैं। लोगों के व्यवहार संबंधों के संदर्भ में ही सामाजिक संबंध बनते हैं या फिर बिगडते हैं अथवा नए सबंधों का निर्माण होता है।

7. **सामाजिक संरचना स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित होती है -** प्रत्येक समाज की एक संरचना होती है और दूसरे समाज से भिन्नता होती है। स्थान विशेष की सांस्कृतिक व्यवस्था सामाजिक संरचना को प्रभावित करती है। विभिन्न स्थानों की संस्कृति, राजनीतिक दशा एवं भौगोलिक परिस्थितियों में अंतर पाया जाता है। अतः सामाजिक संरचनाएं भी इनसे प्रभावित होने के कारण भिन्न - भिन्न प्रकार की होती है।

8. **सामाजिक संरचना में प्रत्येक इकाई का एक पूर्ण निश्चित स्थान व पद होता है** - सामाजिक व्यवस्था के सुचारू रूप से संचालन के लिए विभिन्न संरचनाओं का एक निश्चित स्थान व पद, प्रस्थिति होती है क्योंकि संरचना के बेमेल जोड़ संरचना निर्माण को विषम आकार देकर व्यवस्था को अवरोधित करते रहते हैं। जिस प्रकार शरीर रूपी संरचना में इसकी विभिन्न इकाइयों अर्थात अंगों यथा हाथ-पांव, नाक-कान, आंख आदि का एक स्थान तय है। यदि ये अंग एक-दूसरे का स्थान ले लें तो शरीर विकृत संरचना का परिचायक होता है। ठीक उसी प्रकार सामाजिक संरचना में राज्य, चर्च, परिवार, विवाह, धर्म, न्याय व्यवस्था, शिक्षण संस्था आदि सभी का स्थान पूर्व निर्धारित होता है यदि वे एक - दूसरे का स्थान ग्रहण कर लेते हैं तो सामाजिक संरचना में विकृति आ जाती है।

9. **सामाजिक संरचना में सामाजिक प्रक्रियाएं महत्वपूर्ण होती हैं** - सामाजिक संरचना के निर्माण में सहयोगी एवं असहयोगी प्रक्रियाओं जैसे सहयोग, अनुकूलन, व्यवस्थापन, एकीकरण, सात्यीकरण प्रतिस्पर्द्धा एवं असहयोग आदि की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। ये सामाजिक प्रक्रियाएं ही सामाजिक संरचना के स्वरूप को तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सामाजिक प्रक्रियाओं का बाह्य रूप सामाजिक संरचना को तय करता है।

10. **सामाजिक संरचना में विघटन के तत्व भी पाए जाते हैं -** सामाजिक संरचना निर्माण का महत्वपूर्ण पक्ष मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है किंतु यह भी सत्य है कि कोई भी संरचना अपने आप में श्रेष्ठ नहीं होती और न ही उसमें पूर्णता पाई जाती है। कई बार परिस्थिति जन्य परिप्रेक्ष्य में यह समाज में विघटन भी पैदा करती है। मर्टन व दुर्खीम का मानना है कि कई बार सामाजिक संरचना स्वयं समाज में नियमहीनता पैदा करती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना में संगठन व विघटन दोनों ही पैदा करने वाले तत्व पाए जाते है।

उपरोक्त विशेषताओं से आपको स्पष्ट हो गया होगा कि सामाजिक संरचना किसी भी व्यवस्था का बाह्य आकार है जो स्थायित्व के साथ - साथ, स्थान, समय, परिस्थिति और मानवीय व्यवहार संबंधों के संदर्भ में परिवर्तनशीलता का भी गुण लिए होती है। प्रत्येक प्रगतिशील समाज की सामाजिक संरचना में इस प्रकार की गतिशीलता आवश्यक मानी जाती है और यह व्यवस्थापन का अंग है।

11.5 सामाजिक संरचना के विविध स्वरूप

सामाजिक संरचना की कार्य-विधि, प्रत्येक संरचना को एक विशिष्ट स्थान व स्वरूप प्रदान करती है। रेडक्लिफ ब्राउन ने संरचना संबंधों का उपयोग नातेदारी संबंधों, आर्थिक संगठनों एवं धार्मिक रीति-रिवाजों में निहित निरंतरता के आधार पर बने प्रतिमानों से किया है। सिंधी का मानना है कि सामाजिक संरचना की अवधारणा में व्यक्तियों के विशिष्ट गुण महत्वहीन होते हैं। केवल उन्हीं गुणों को महत्व दिया जाता है जो परिवर्तनशील नहीं हैं। अनेक प्रकार के सामाजिक संबंधों के आधार पर हम ऐसे स्वरूप या संरचना का अमूर्त रूप से मित्रता की संज्ञा देते हैं। यह स्वरूप स्थायी होता है। साथ ही साथ यह स्वरूप समय, स्थान और व्यक्तियों से परे होता है। समाजशास्त्र प्रमुख रूप से सामाजिक स्वरूपों का अध्ययन करता है, न कि उन स्वरूपों में पाए जाने वाले विशिष्ट स्वरूपों का। किसी भी समाज व्यवस्था के सार को स्वरूप के माध्यम से ही समझना आसान होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यवस्था विशेष का अवलोकन, स्वरूप व सार के संदर्भ में ही सारगर्भित माना जाता है किंतु इसमें स्वरूप को वरीयता एवं प्राथमिकता दी जाती है जो संरचना को निम्नलिखित स्वरूपों के माध्यम से जानते हैं -

1.संरचना अवस्थिति के रूप में - संरचना को व्यक्ति सापेक्ष समझना ही व्यवस्था की वास्तविक दशा का निर्धारण करना होता है अर्थात यदि व्यक्तियों को उनकी आर्थिक संरचना के परिप्रेक्ष्य में देखना है तो उसके लिए आवश्यक है कि लोगों को कम आय व आय समूह में बांटां जाए। स्पष्ट है कि सामाजिक श्रेणी का निर्धारण व्यक्तियों की आर्थिक जीवनशैली से प्रभावित होता है। व्यक्तियों को अलग -अलग श्रेणी में बांटंने की प्रक्रिया अवस्थिति कहलाती है। केबल टी.वी. को देखने वाले व्यक्ति एक श्रेणी में रखे जा सकते हैं, जिनकी सामाजिक प्रस्थिति आय, शिक्षा, आवास स्थल अन्य लोगों से भिन्न हो सकती है। अतः केबल टी वी देखने वालों की एक अवस्थिति होगी।

2. संरचना भूमिका के रूप में - भूमिका निर्वहन ही व्यक्ति की सामाजिक संबंध के व्यवहार प्रतिमान को प्रतिबिंबित करता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति की पहचान पति की भूमिका निभाने के दृष्टिकोण से होती है जो कि विवाह संबंध का भाग है। एक पति होने का अर्थ है, उसकी पत्नी भी है। स्पष्ट है कि एक भूमिका विशेष की पहचान, किसी न किसी दूसरी भूमिका के सापेक्ष होती है। भूमिकाएं औपचारिक व अनौपचारिक दोनों प्रकार की होती हैं। हर व्यक्ति अनेक प्रकार की भूमिकाओं का वरण व पालन करता है और इस प्रकार भूमिकाओं का एक समग्र अर्थात संकुल का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए एक महिला मां, बेटी व पत्नी के रूप में भूमिका संकुल का निर्माण करती है और व्यक्ति विशेष के संबंध में भूमिका का निर्वहन अपेक्षा के अनुसार करने का प्रयत्न करती है। संरचनात्मक समाजशास्त्रियों का मानना है कि व्यक्तियों के विश्वास एवं अभिवृतियां उनकी भूमिकाओं के अनुसार बदलते हैं, न कि इसके विपरीत रूप में ।

3. **संरचना एक संगठन के रूप में** - सामाजिक संबंध व संरचनात्मक संबंधों में अंतर होता है। सामाजिक संबंधों को मूर्त व्यक्तियों के अमूर्त व्यवहारों के संदर्भ में ही समझा जाता है। संबंधों की जटिलता ही संरचना को सामान्य या विशेष बनाती है जिसके आधार पर समाज विशेष की संरचनाओं को समझने का प्रयास किया जाता है। उदाहरण के लिए उच्च शैक्षणिक संस्थानों में शिक्षा का स्तर। विद्यार्थियों को रोजगार दिलाने में कौन शैक्षिक संस्थान या शिक्षा का स्वरूप अग्रणी है। उसके लिए उस शैक्षणिक संस्थान के शैक्षिक माहौल, अध्यापक एवं विद्यार्थियों की गुणवत्ता तथा अन्य महत्वपूर्ण संसाधनों को जानना जरूरी होता है। स्पष्ट है कि संरचनात्मक समाजशास्त्री आय की असमानता के प्रतिमान को व्यक्तियों के भेदों से नहीं समझाते अपितु श्रम, बाजार एवं व्यापक आर्थिक प्रभावों के आधार पर समझाते हैं।

4. **संरचना वितरण के रूप में** - सामाजिक संरचना को सामाजिक संगठन के रूप में समझने के लिए हम नियम व पद्धतियों को ध्यान में रखते हैं। वितरण किसी भी सामाजिक संरचना के उस स्वरूप को इंगित करता है जिसमें विभिन्न मनुष्यों के बीच अंर्तसंबंधों को जाना जाता है जिसके साथ उनकी प्रस्थिति व संबंधित भूमिका जुड़ी रहती है। उदाहरण के तौर पर जनसंख्या के अंतर्गत जिन आधारों पर विभेद किया जाता है उसके आधार पर वितरण को समझा जा सकता है। अगर दो समूह प्रजाति, आय अथवा लिंग के आधार पर वर्गीकृत हैं तो छोटे समूहों के सदस्यों में परस्पर घुलना - मिलना अधिक होता है। जबकि बडे समूहों में यह कम होता है। इसका आधार अभिरूचि अथवा मूल्य नहीं होता है अपितु संख्या का कम या अधिक होना। वितरण के सिद्धांत प्रायः मूल्यों और विश्वासों को कम महत्व देते हैं और लोगों के संख्यात्मक वितरण की संख्या को अधिक महत्व देते हैं। तात्पर्य यह है कि मानवीय संबंधों की व्यापकता व्यवस्था विशेष के संदर्भ में सामाजिक संरचना को एक नया स्थान देती है।

5. **संरचना एक जाल के रूप में** - सामाजिक संरचना की धारणा व्यक्तियों के पद, प्रतिस्थति तथा उससे संबंधित भूमिकाओं की संपूर्णता या समग्रता से है। एक जाल के रूप में सामाजिक संरचना की धारणा व्यक्तियों के उस योग से जुडी हुई है जिसके अंतर्गत उनके अनेक प्रत्यक्ष सामाजिक संबंधों की कडियां होती हैं। ये कडियां ही व्यक्तियों के सामाजिक दायरे को विस्तरित करती हैं जिससे व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर आता जाता रहता है। अनेक भारतीय अमेरिका में इसलिए आ गए हैं क्योंकि उनके रिश्तेदार उस देश में पहले से ही हैं और संबंधों का यह जाल उन्हें वहां जाने में सहायता करता है। सामाजिक जीवन को संबंध जालों के आधार पर समझने की प्रक्रिया के अंतर्गत सामाजिक व्यवहारों में निहित उन दबावों की परिकल्पना होती है जो कि सामाजिक संबंधों के आधार पर बनते हैं। जाल संबंध को और स्पष्ट करते हुए सिंधी पुनः लिखते हैं कि संबंध जाल विश्लेषण के अंतर्गत तीन तरह के प्रश्नों को महत्व दिया गया है -

(अ) कर्ता पर उसके जाल में अवस्थिति (Location) का क्या प्रभाव पड़ता है ?

(ब) जाल संरचना के साकल्य (संपूर्णता) का कर्त्ता के व्यवहार पर क्या असर पड़ता है ?

(स) एक जाल का दूसरे जाल पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

समाजशास्त्री पारसंस ने अपनी महत्वपूर्ण कृति The Social System में सामाजिक मूल्यों के आधार पर संरचना के चार रूपों का उल्लेख किया है। उन्होंने चार प्रकार के सामाजिक मूल्य माने हैं जिनका विवरण निम्नवत है -

i) **सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य -** जो सारे समाज में फैले होते हैं और सभी लोगों पर लागू होते हैं। उदाहरण के लिए, सच्चाई व ईमानदारी सभी समाजों में उत्तम गुणों के रूप में स्वीकार किए जाते हैं।

ii) **विशिष्ट सामाजिक मूल्य** - जो किसी समाज विशेष तक सीमित होते हैं। उदाहरण के लिए, पतिव्रत का आदर्श हिंदुओं में ही पाया जाता है अथवा जाति व्यवस्था की संकीर्णताएं आज भी भारतीय समाज का प्रमुख लक्षण बनी हुई हैं।

iii) **अर्जित सामाजिक मूल्य -** जिनका संबंध व्यक्ति के प्रयत्नों द्वारा निर्धारित पदों से होता है। यह पद स्वयं में ग्राह्य होते हैं, न कि किसी विशेष व्यवस्था का जन्म से ही अंग बनने से। उदाहरण के लिए एक सरकारी कर्मचारी की उसकी नौकरी से संबंधित सामाजिक मूल्य होते हैं जो उस नौकरी की संरचना को एक विशिष्ट स्थान समाज में देती है।

iv) **प्रदत्त सामाजिक मूल्य** - जिनका संबंध जन्म एवं परंपरा द्वारा निर्धारित पदों से होता है।

11.6 बोध प्रश्न

1- सामाजिक संरचना की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

2- सामाजिक संरचना को परिभाषित कीजिए?

11.7 सारांश

अब तक आप जान चुके होंगे कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित रूप से जानने के लिए उसकी बनावट अर्थात संरचना को जानना आवश्यक है। संरचना मानव शरीर की भांति सामाजिक व्यवस्था को भी एक आकार देती है। प्रत्येक व्यवस्था की अपनी सामाजिक संरचना होती है जिसकी निरंतरता एवं स्थायित्व संरचना विषेष को बनाए रखने वाले प्रकार्यों पर निर्भर करती है। सामाजिक संरचना सामाजिक व्यवस्था का संगठित एवं विघटित स्वरूप दोनों को इंगित करती है।

10.8 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक संरचना की एक परिभाषा दीजिए।
2. संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक उपागम को स्पष्ट कीजिए।
3. सामाजिक संरचना की दो विशेषताओं को बताइये।

11.9 अभ्यास प्रश्न

1. सामाजिक संरचना की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए संरचना की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ?
3. सामाजिक संरचना के विविध स्वरूपों को बतलाइए ?
4. समाजशास्त्र में संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक उपागम के महत्व को दर्शाइए

11.10 संदर्भ ग्रन्थ –

1. मुखर्जी, रवीन्द्र नाथ, 1994, समकालीन उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धांत, दिल्ली: विवेक प्रकाशन
2. सिंधी, नरेंद्र कुमार, 2001, समाजशास्त्रीय सिद्धांत: विवेचन एवं व्याख्या, जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स

3. सिंधी, नरेंद्र कुमार व वसुधाकर गोस्वामी, 2000, समाजशास्त्र विवेचन, जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी

4. सिंह, जे.पी. 1999, सामाजिक परिवर्तन: स्वरूप एवं सिद्धांत, नई दिल्ली: प्रेटिस-हाल आफ इंडिया प्राइवेट लिमिटेड

5. दोषी, एस.एल. व एम.एस. त्रिवेदी, 2002, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धांत, जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स

6. गुप्ता, एम.एल. व डी.डी शर्मा, 1996, समाजशास्त्र, आगरा: साहित्य भवन पब्लिकेशन्स

इकाई-12 सामाजिक संरचना में प्रमुख समाजशास्त्रीयों का योगदान

(Contribution of main sociologist in the field of social structure)

इकाई की रूपरेखा

12.0 परिचय

12.1 उद्देश्य

12.2 संरचना की अवधारणा में प्रमुख समाजशास्त्रियों का योगदान

12.3 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम

12.4 संरचना का समालोचनात्मक विश्लेषण

12.5 बोध प्रश्न

12.6 सारांश

12.8 लघु उत्तरीय प्रश्न

12.8 निबंधात्मक प्रश्न

12.6 अभ्यास प्रश्न

12.7 संदर्भ ग्रंथ

12.0 प्रस्तावना

संरचना की अवधारणा समाजशास्त्र व मानवशास्त्र दोनों विषयों की महत्वपूर्ण अवधारणा मानी जाती है। समाज सतत गतिशील है। बदलते सामाजिक परिवेश में संरचना व व्यवस्था दो समाज की ऐसी इकाइयां हैं जो मानव समाज को एक आकार देकर उसकी नींव मजबूत बनाती हैं। सामाजिक संबंधों की अंतर्निभरता, निकटता, विलगाव, विघटन इत्यादि का अध्ययन संरचना व व्यवस्था को समझे बिना नहीं किया जा सकता है। समाजशास्त्रीय साहित्य में सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग हरबर्ट स्पेंसर ने किया। इस अवधारणा का विस्तृत स्वरूप कार्लमानहीम, नैडेल, मर्टन, दुर्खीम, पारसंस, जानसन, मैलिनोवस्की तथा रैडक्लिफ ब्राउन आदि विद्वानों द्वारा विश्लेषित किया गया है।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे -

- संरचना की अवधारणा में प्रमुख समाजशास्त्रियों का योगदान
- संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक उपागम
- सामाजिक संरचना के प्रमुख सिद्धांत
- संरचना का आलोचनात्मक विश्लेषण

12.2 संरचना की अवधारणा में प्रमुख समाजशास्त्रियों का योगदान

जैसा कि आपको पहले भी बताया जा चुका है कि सामाजिक संरचना का अध्ययन समाजशास्त्र व मानवशास्त्र दोनों विषयों के विद्वानों द्वारा किया गया है। मानवशास्त्र में यह अवधारणा समाज के संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक संबोध को और अधिक सुस्पष्ट करती है। संरचनात्मक समाजशास्त्र व्यक्ति को महत्व न देकर अमूर्त संरचना को व्यक्ति के व्यवहार का आधार मानता है। विषयगत सार के संदर्भ में संरचना की अवधारणा भिन्न - भिन्न हो सकती है किंतु शाब्दिक परिप्रेक्ष्य में उसका अर्थ समानरूपेण होता है । समाजशास्त्री स्पेंसर ने संरचना को प्राणीशास्त्र से लेकर सामाजिक संबंधों के संदर्भ में संरचना को विकसित किया और पुनः दुर्खीम, लेवी स्ट्रास, पारसंस, नैडेल, रैडक्लिफ ब्राउन, मैलिनोवस्की इत्यादि समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों द्वारा इस अवधारणा को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया गया ।

दोषी और त्रिवेदी के अनुसार संरचना की व्याख्या करने वाले सिद्धांत वेत्ता दो संप्रदायों में बंटे हुए हैं: एक संप्रदाय तो यूरोप के संरचनावादियों का है और दूसरा अमेरिकन - ब्रिटिश संरचनावादियों का। यूरोप के संरचनावादियों का कहना है कि संरचना का मूल आधार मनुष्य के विचार और भाषा हैं जबकि अमेरिकन ब्रिटिश संरचनावादी व्यक्तियों के बीच के सामाजिक संबंध को सामाजिक संरचना मानते है। व्यापारी और ग्राहक, वकील व मुवक्किल इत्यादि भूमिकाओं के बीच के संबंध सामाजिक संरचना हैं । यूरोप के संरचनावादियों में क्लाउड लेवी स्ट्रास और माइकेल फोकाल्ट (फूको) प्रमुख हैं। इधर अमेरिकन - ब्रिटिश संरचनावादियों में पीटर ब्लॉ का नाम प्रमुख है । विषयगत आवधारणा के सार को समझाने के लिए प्रमुख लेखकों के योगदान का विवरण निम्नवत है -

(अ) **लेवी स्ट्रॉस** - संरचना के सिद्धांतीकरण का श्रेय लेवी स्ट्रॉस को प्रमुख रूप से दिया जाता है। उनका मानना है कि संरचना का प्रत्यक्षीकरण नहीं किया जा सकता है और उन्हें इंद्रियों के माध्यम से खोजा भी नहीं जा सकता है ।

लेवी स्ट्रॉस ने नातेदारी संरचना का विस्तृत विश्लेषण किया और बताया कि प्रत्येक नातेदारी व्यवस्था के कुछ मूल तत्व होते हैं। जो सार्वभौमिक होते हैं अर्थात सामाजिक संबंधों की विषयगत भावना ही नातेदारी व पारिवारिक संरचनाओं को प्रत्येक समाज में जन्म देती है । उनका संरचनात्मक दृष्टिकोण भाषाविज्ञान से प्रभावित है जिसमें वस्तुओं के घटने का कारण भाषा और उसकी अवधारणाएं मानी जाती हैं। प्रत्येक भाषा में कर्ता और क्रिया के लिए निश्चित शब्द होते हैं और ये शब्द ही संरचना हैं।

संरचना की अपनी अवधारणा की व्याख्या में लेवी स्ट्रॉस ने स्पष्ट किया कि विभिन्न समाजों में कुछ सार्वभौमिक तत्व होते हैं जो प्रत्येक समाज का अंग माने जाते हैं । संरचना में स्थायित्व होता है । लेवी स्ट्रॉस को मार्क्स विरोधी भी बताया जाता है क्योंकि उनका (स्ट्रॉस) का मानना है कि मार्क्स का वर्ग- सिद्धांत क्रांतिकारी नहीं है।

(ब) **आल्थूजर** - आल्थूजर भी संरचना को वैयक्तिक विश्लेषण का प्रारूप नहीं मानते हैं बल्कि उनके अनुसार यह सामाजिक स्वरूप का आधार है जिसमें अनेक सतह एवं अनेक स्तर हैं । सतह और स्तर के पारस्परिक अंतर्कियाओं की संबद्धता ही संरचना को पूर्णता प्रदान करती है। यह पूर्णता किसी एक तंत्र से प्रमुख रूप से प्रभावित होती है जिसे आल्थूजर ने संरचना में 'प्रभुत्व' की संज्ञा दी । सामाजिक स्वरूपीकरण की प्रक्रिया में चार तत्व होते हैं - (1) आर्थिक (2) राजनीतिक (3) आदर्शात्मक तथा (4) सैद्धांतिक । स्पष्ट है कि आर्थिक तत्व निश्चयात्मक भूमिका अदा करता हैं जबकि प्रभुत्व भूमिका राजनीतिक आदर्श अथवा जनजाति समाजों में नातेदारी की व्यवस्था अदा करती है। सामाजिक स्वरूपीकरण अनेक तत्वों से मिलकर बनता है जिसमें स्वायत्तता एवं अंत: संबंध दृष्टिगोचर होते हैं ।

(स) **पीअरे बोरदियू** - संरचनावाद ने एक सामाजिक विचारधारा के रूप में मानवशास्त्र व समाजशास्त्र दोनों विषयों के अध्ययन को प्रभावित किया है । खासकर सांस्कृतिक संरचनावाद का सामाजिक धरातल भी प्रभावपूर्ण भूमिका से । सांस्कृतिक संरचनावादी कई तरह के विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं । ये संरचनावादी प्रतीकात्मक व्यवस्था की संरचना पर जोर देते हैं। बोरदियू अपने संरचनात्मक विश्लेषण में वर्ग आधार को लेते हैं और इस प्रकार सार रूप में वह मार्क्स और बेबर के वर्ग सिद्धांतों को स्वरूपीकरण के रूप में सम्मिश्रित करते हैं । आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक स्थितियां वर्ग विशेष के व्यवहारों को सामाजिक संबंधों के रूप में चिन्हित कर विशिष्ट एवं सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं। वर्ग संस्कृति प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में लोगों के बीच संबंधों को निर्धारित करती है। वर्ग संघर्ष प्रायः संपत्ति निर्धारण व विभाजन को लेकर सांस्कृतिक संघर्ष सिद्धांत को जन्म देता है और इस प्रकार संरचना की निर्भरता व अंतर्क्रिया समाज व्यवस्था के संदर्भ में बदलती रहती है।

(द) **पीटर ब्लॉ-** पीटर ब्लॉ के अनुसार किसी भी सामाजिक संरचना का प्रमुख उद्देश्य समाज में एकीकरण लाना होता है। यह इसलिए आवश्यक है कि इससे व्यवस्था के सुचारू रूप से संचालन में मदद मिलती है । स्वाभाविक है कि

पारस्परिक अंतर्क्रिया ही लोगों को संगठित या विघटित करती है। ब्लॉ का मानना है कि गणितीय सूत्र की भांति सामाजिक एकीकरण के लिए दो मान्यतायें अनिवार्य हैं जैसे -

एकीकरण् = प्रकार्यात्मक निर्भरता + वास्तविक अंतर्क्रिया स्पष्ट है कि व्यक्तियों के बीच अंतर्क्रिया के लक्षण समाज व्यवस्था की धार्मिक, सामाजिक, जातिगत, व्यवसायगत आदि संरचनाओं से प्रभावित होते हैं । संगठन एवं विघटन की प्रकार्यात्मक अंतर्निभरता एकता के लिए उत्तरदायी नहीं होती है बल्कि व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले संबंध जो वास्तविक अंतर्क्रिया को बताते हैं। आदिम समाजों में सामूहिकता प्रभावशाली होती है किंतु संघर्ष का दायरा भी कम नहीं होता है इसके विपरीत आधुनिक समाज में आर्थिक प्रतिस्पर्धा व्यावसायिक संघर्ष को वर्ग विशेष के संदर्भ में एकीकरण का काम करती है । ब्लॉ लिखते हैं कि सामाजिक संरचना का आधार विनिमय होता है जो सामाजिक संबंधों को बनाए रखता है।

12.3 संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक उपागम

संरचना व प्रकार्य किसी भी सामाजिक व्यवस्था के सुचारू रूप से संचालन के लिए आवश्यक माने जाते हैं । प्रकार्य संरचना के अस्तित्व एवं निरंतरता के लिए आवश्यक है और संरचना के बिना प्रकार्य संभव नहीं है क्योंकि कोई भी क्रिया शून्य में नहीं होती, उसके घटित होने के लिए संरचनात्मक परिस्थिति या आधार का होना अनिवार्य है। संरचना व प्रकार्य की पारस्परिक निर्भरता व अंतर्क्रिया में बदलाव एक-दूसरे को स्पष्ट रूप से प्रभावित करता है । मुखर्जी लिखते हैं कि निरंतरता एवं गतिशीलता सामाजिक जीवन का विशिष्ट पहलू हैं, यह वह दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जिसमें सामाजिक जीवन बना रहता है क्योंकि समाज साधनों (संरचना) को प्राप्त करता है जिनके द्वारा वे (समाज) जन आवश्यकताओं (प्रकार्य) की पूर्ति करते हैं जो कि या तो संगठित सामाजिक जीवन की पूर्व शर्त है अथवा परिणाम ।

सामाजिक संरचना की अवधारणा संरचनात्मक उपागम को समाजशास्त्र में एक विशिष्टता प्रदान करती है क्योंकि संरचनात्मक समाजशास्त्र ऐतिहासिक है और साथ ही स्थिर भी । सिंधी ने संरचनात्मक उपागम के कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं पर प्रकाश डाला है जो निम्नलिखित है-

1. संरचनात्मक उपागम व्यक्ति को गौण व व्यवस्था को प्राथमिकता देता है । समाज व्यक्ति का निर्माण करता है, न कि व्यक्ति समाज का ।

2. यह कर्ता की इच्छा व प्रयोजन को नकारता है।

3. व्यक्तियों की अंतर्क्रियाओं के माध्यम से संबंधों की पुनरावृत्ति होती है जो कि प्रतिमानों का स्वरूप ले लेते हैं ।

4. यह उपागम वस्तुपरकता Objectivity को स्वीकार करता है जिसके अंतर्गत प्रतीकात्मक अर्थों का महत्व गौण हो जाता है। अवलोकित व्यवहार, जिसे देखा जा सकता है, उसी आधार पर अर्थों का निर्माण होता है।

5. अर्थों का निर्माण, संरचना से निकाला जाता है, न कि अर्थों से सरंचना का निर्माण।

6. व्यक्ति की स्वतंत्रता का पक्ष इस उपागम में गौण हो जाता है।

7. यह उपागम ऐतिहासिकता को नकारता है व स्थायित्व को महत्व देता है।

प्रकार्यात्मक उपागम संरचना के स्थान व प्रकार्य को महत्व देता है क्योंकि आवश्यकताएं कार्य करने के लिए प्रेरित करती हैं। संरचनात्मक समाजशास्त्री यह तर्क देते हैं कि हमारे पैर हैं इसलिए हम चलते हैं। प्रकार्यवादी यह तर्क देते हैं कि हमारे चलने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे पैर हों। संरचना के स्थायित्व के लिए यह आवश्यक है कि वह सामाजिक व्यवस्था के उद्देश्य को पूरा करती है और यही उसका प्रकार्य है। अतः स्पष्ट है कि प्रकार्यात्मक उपागम संरचना को द्वितीयक तथा प्रकार्य को प्राथमिक मानता है। स्पेंसर, दुर्खीम, मेलिनोवस्की, मर्टन आदि प्रकार्य को वरीयता देते हैं वही दूसरी ओर रैडक्लिफ ब्राउन, पारसंस आदि सामाजिक व्यवस्था के नियमन में संरचना व प्रकार्य दोनों को महत्व देते हुए संरचनात्मक प्रकार्यवाद के सिद्धांत को विकसित करते हैं। संक्षेप में विषयगत गहराई को जानने के लिए कुछ विद्वानों के विचारों को यहां पर दिया जा रहा है जो इस प्रकार हैं -

1. **दुर्खीम का दृष्टिकोण -** दुर्खीम के अनुसार सामाजिक संरचना व प्रकार्य के बीच सहसंबंध पाया जाता है। सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक तथ्यों से होता है और प्रत्येक सामाजिक तथ्य का उस संरचना विशेष में एक निश्चित प्रकार्य होता है। अपने आरंभ काल में सामाजिक संरचना सरल थी। लोग प्रत्यक्ष रूप से एक - दूसरे से जुडे थे किंतु जैसे - जैसे श्रम विभाजन व विशेषीकरण का महत्व बढ़ा। संरचना की अवधारणा भी प्रकार्य को और निर्णायक बना दिया। परिवार एक संरचना के रूप में अपने आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक व अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य द्वितीयक स्रोतों पर निर्भर रहकर अपने इस उद्देश्य की पूर्ति करता है। अतः आधुनिक सामाजिक संरचना और सामाजिक प्रकार्य एक - दूसरे से न केवल संबंधित हैं बल्कि एक-दूसरे पर आधारित भी हैं।

2. **लेवी का दृष्टिकोण -** लेवी ने अपने विचारों को The Strcuture of Society पुस्तक में व्यक्त किया। लेवी का मत है कि किसी भी संरचना की निरंतरता व स्थिरता तभी तक बनी रहती है जब तक इसके निर्माणक अंग इसके उद्देश्य को पूरित करते रहते हैं अर्थात प्रकार्य सामाजिक संरचना को बनाए रखने के लिए महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि ये कार्य समाज विशेष की सामाजिक संरचना के आधार पर भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, फिर भी लेवी ने कुछ सामान्य प्रकार्य को सभी प्रकार की सामाजिक संरचना का महत्वपूर्ण अंग माना जो इस प्रकार हैं जिन्हें किसी भी समाज की प्रकार्यात्मक पूर्ण शर्ते भी माना जाता है-

1. यौन संबंधों व शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था

2. भूमिकाओं का विभेदीकरण तथा उनका विभाजन

3. संचार

4. स्वीकृत आदर्श व मूल्य व्यवस्था

5. लक्ष्यों का निर्धारण

6. साधनों के चुनाव का नियमन

7. क्रियात्मक अभिव्यक्ति का नियम

8. पर्याप्त समाजीकरण

9. विघटन उत्पन्न करने वाले व्यवहारों पर प्रभावपूर्ण नियंत्रण तथा

10. पर्याप्त संस्थायीकरण।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना की प्रकृति यह निर्धारित करती है कि उनमें से किन - किन प्रकार्य को किसी सीमा तक पूरा किया जा सकता है।

3. **मर्टन का दृष्टिकोण** - संरचनात्मक प्रकार्यवाद को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का श्रेय आर. के. मर्टन को जाता है। रैडक्लिफ ब्राउन एवं मैलिनोवस्की ने प्रकार्यवाद का प्रयोग जहां तक आदिम जनजाति के लिए किया था वहीं पर मर्टन ने इसे आधुनिक व औद्योगिक समाज के लिए किया। उनका मानना है कि सामाजिक व्यवस्था की इकाइयों का प्रकार्य सामाजिक संरचना के अस्तित्व एवं निरंतरता के लिए अनिवार्य है। प्रकार्य के पांच प्रमुख व प्रचलित अर्थों की चर्चा की है, जो इस प्रकार है-

(1) प्रकार्य सार्वजानिक उत्सव या सम्मेलन के रूप में

(2) प्रकार्य व्यवस्था के रूप में

(3) प्रकार्य एक सामाजिक पद पर आसीन व्यक्ति के कार्यकलाप के रूप में

(4) गणितशास्त्रीय प्रकार्य तथा

(5) व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक प्राणीशास्त्रीय या सामाजिक कार्य प्रणालियों के रूप में प्रकार्य।

मर्टन ने प्रकार्यवादियों के इस विचार का खंडन किया कि सामाजिक इकाइयां केवल प्रकार्य ही करती हैं इसके विपरीत उनका मानना है कि व्यवस्था एवं संरचना को बनाए रखने में कुछ इकाइयां अकार्य का कार्य करती हैं। ये अकार्य सामाजिक व्यवस्था को विघटित करने का कार्य करते हैं। मर्टन के अनुसार प्रकार्यात्मक विश्लेषण में चार स्तरों की क्रमबद्धता को स्वीकार करना चाहिए जो इस प्रकार हैं -

1. किसी भी सामाजिक व्यवस्था की प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं को खोजना।

2. सामाजिक व्यवस्था में उस प्रबंध को ढूंढ़ना जो कि प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं को पूरा करने में मदद देते हैं।

3. सामाजिक व्यवस्था में उन तत्वों को ढूढ़ना जिनको प्रकार्यात्मक विकल्प या प्रकार्यात्मक समरूप कहा जाता है।

जिस सामाजिक संरचना का अध्ययन कर रहे हैं उसका विस्तृत विवरण और उन सारे तरीकों को मालूम करना जिनके माध्यम से सामाजिक व्यवस्था अथवा सामाजिक संरचना की निरंतरता बनी रहती है।

4- **मैलिनोवस्की का दृष्टिकोण** - मैलिनोवस्की ने मानवशास्त्र में प्रकार्यवाद की नींव रखी। उन्होंने संस्कृति की प्रकार्यात्मक व्याख्या की है। आदिम समाजों का सामाजिक-सांस्कृतिक इकाई के रूप में अध्ययन कर संस्कृति के हरेक पहलू की व्याख्या उसके प्रकार्यों के आधार पर की है। किसी भी संस्कृति के संगठन का महत्वपूर्ण उद्देश्य मानव की प्राणीशास्त्रीय प्रेरणाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधन उपलब्ध कराना है। संस्कृति का प्रत्येक तत्व किसी न किसी कार्य को करने के लिए हुआ करता है और उसका अस्तित्व इसी समय तक बना रहता है जब तक वह संपूर्ण जीवन व्यवस्था में कोई न कोई कार्य करता रहता है। अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति मनुष्य संस्थाओं के माध्यम से करता है। धर्म, जादू इत्यादि ऐसी सांस्कृतिक संस्थाएं हैं जो कि हमारी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। ये संस्थाएं परस्पर अंत:निर्भर और अंत:संबंधित होती हैं और इस प्रकार सामाजिक व्यवस्थाओं में समन्वयता बनी रहती है।

5- **रैडक्लिफ ब्राउन का दृष्टिकोण** - रैडक्लिफ ब्राउन मेलिनोवस्की के समकालीन मानवशास्त्री थे। इन्होंने संरचनात्मक - प्रकार्यवाद सिद्धांत की नींव रखी। सामाजिक संरचना को सामाजिक संबंधों के जाल रूप में देखते हुए, संरचना तथा संरचनात्मक स्वरूपों में अंतर करते हैं। संरचनात्मक स्वरूप की स्थिरता विभिन्न अंगों के आपस में सुव्यवस्थित ढंग से जुड़ने से होती है। परिवार, शिक्षा तथा राजनीतिक व्यवस्था आदि अंगों के विशिष्ट प्रकार्या से संरचनात्मक स्थायित्व बना रहता है। संरचना को सदैव प्रकार्य के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। उनकी ऐसी मान्यता थी कि आकृति विज्ञान, शारीरिक क्रिया विज्ञान अर्थात (संरचना

का अध्ययन व प्रकार्य का अध्ययन) एवं उद्विकास जो किसी अवयवी के विश्लेषण से जुड़ा है, सामाजिक जीवन पर भी लागू होता है। उदाहरण के लिए विवाह संस्था को लीजिए। दक्षिण अफ्रीका की थोंगा और बांटू जनजातियों में वधू मूल्य के रूप में ढोर, जिसे कि 'लाबोला' कहा जाता है, देने की प्रथा है। विवाह से संबंधित यह प्रथा अनेक लोगों को एक - दूसरे से संयुक्त करती है और वह इस रूप में कि 'लाबोला' को एकत्र करने में केवल एक व्यक्ति के अपने ही परिवार के सदस्य नहीं बल्कि उनके निकट नाते – रिश्तेदार भी सहायता करते है। इस प्रकार विवाह संस्था के द्वारा दो परिवारों के सदस्य परस्पर संबंधित ही नहीं हो जाते हैं बल्कि उनमें एक प्रकार का आर्थिक सहयोग भी पनपता है। सामाजिक व्यवस्था के स्थायित्व को रैडक्लिफ ब्राउन ने प्रकार्यात्मक एकता का नाम दिया। प्रत्येक जीव को जीवित रहना उनकी संरचना का प्रकार्य समझा जाता है। इसी तरह सामाजिक जीवन की प्रक्रियाएं एवं गतिविधियां सामाजिक संरचना का प्रकार्य होती हैं।

6. **टैलकाट पारसंस का दृष्टिकोण** - पारसंस का स्पष्ट मानना था कि समाज का वास्तविक अध्ययन संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से ही संभव है। पारसंस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था या संरचना के बने रहने के लए कुछ प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं या आवश्यकताएं होती हैं। पारसंस लिखते हैं कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था को बनाने वाले अनेक वैयक्तिकर्ता है जो कि एक परिस्थिति विशेष में एक दूसरे के साथ अंतर्क्रिया करते रहते हैं। और जिनके पारस्परिक संबंध सांस्कृतिक तौर पर निर्धारित संरचना व सहयोगी प्रतीकों को एक व्यवस्था के संदर्भ में पारिभाषित और परिवर्तित करते हैं। पारसंस के अनुसार अनुकूलन, उद्देश्य उन्मुखता, एकीकरण तथा लचीलापन जैसी पूर्ण आवश्यताएं किसी भी सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए आवश्यक प्रतिक्रियाएं हैं। सामाजिक व्यवस्था का अस्तित्व बनाए रखने में संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं के योगदान को पारसंस ने प्रकार्यात्मक माना है।

12.4 संरचना का समालोचनात्मक विश्लेषण

संरचना की अवधारणा आज एक सैद्धांतिक पृष्ठभूमि का आकार ले चुकी है। किंतु संरचना को समग्र रूप में विश्लेषित करने में प्रायः संरचनात्मक समाजशास्त्री इसके वैयक्तिक पक्ष को नकार देते हैं। कुछ समाजशास्त्री इस संबोध का उपयोग एक अमूर्त रूप में करते हैं जिसमें संरचना का अर्थ संचार के जाल के आधार पर निर्मित होता है। सिंधी व गोस्वामी स्पष्ट करते हैं कि संरचनात्मक विश्लेषण इस बात की व्याख्या करता है कि क्रियाएं हमारे प्रयोजनों से निर्मित नहीं होती हैं अपितु क्रियाएं संरचना के दबाव से होती हैं।। इस उपागम के द्वारा अप्रयोजित प्रभावों का भी विश्लेषण किया जा सकता है। संरचनात्मक प्रकार्यवाद सामाजिक व्यवस्था के बनाने में संरचना व प्रकार्य दोनों को महत्व देता है किंतु प्रकार्यवाद किसी प्रकार की व्याख्या नहीं करता। बिना व्याख्या अथवा विश्लेषण के उपागम का महत्व कम हो जाता है। चूंकि प्रकार्यात्मक उपागम ऐतिहासिकता को नकारता है क्योंकि इसका उद्भव पश्चिम समाजों में हुआ है। वहीं दूसरी ओर भारतीय समाज मे जहां पर ऐतिहासिकता सामाजिक व्यवस्था का अपरिहार्य अंग मानी

जाती है । भारतीय सामाजिक संस्थाएं, जीवन मूल्य व सामाजिक चेतना को बिना परंपरा के समझे विश्लेषित नहीं किया जा सकता है क्योंकि यहां पर नवीनता के बावजूद निरंतरता एवं स्थायित्व को बनाए रखने में परंपरा अपना महत्वपूर्ण योगदान देती है। स्पष्ट है संरचना का संबोध सार्वभौमिक है किंतु उसकी रचना अपने प्रकार्य के अर्थ में समाज विशेष की सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर करती है।

12.5 बोध प्रश्न

1- संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक उपागम को स्पष्ट कीजिए।

2- दुर्खीम का दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए?

12.6 सारांश

अब तक आप जान चुके होंगे कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित रूप से जानने के लिए उसकी बनावट अर्थात संरचना को जानना आवश्यक है। संरचना मानव शरीर की भांति सामाजिक व्यवस्था को भी एक आकार देती है। प्रत्येक व्यवस्था की अपनी सामाजिक संरचना होती है जिसकी निरंतरता एवं स्थायित्व संरचना विषेष को बनाए रखने वाले प्रकार्यों पर निर्भर करती है। सामाजिक संरचना सामाजिक व्यवस्था का संगठित एवं विघटित स्वरूप दोनों को इंगित करती है। सामाजिक संरचना की अवधारणा के संबंध में, जहां तक समग्र में विभिन्न इकाइयों के योगदान का प्रश्न है, किसी भी प्रकार का विरोधाभास नहीं है, परंतु स्वयं इन इकाइयों या भागों की प्रकृति के संबंध में विद्वानों के विचारों में अत्यधिक भिन्नता देखने को मिलती है। स्पष्ट है कि विचारों की भिन्नता ही संरचना के सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य को मजबूती प्रदान करती है।

12.7 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मर्टन का दृष्टिकोण - संरचनात्मक को स्पष्ट कीजिए?

2. लेवी का दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए?

3. संरचनात्मक व प्रकार्यात्मक उपागम को स्पष्ट कीजिए?

12.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मर्टन एवं पारंसस के संरचना संबंधी विचारों की समालोचना कीजिए ?

2. सामाजिक संरचना व प्रकार्य के अंतर संबंध पर टिप्पणी लिखिए ?

3. संरचना की अवधारणा में प्रमुख समाजशास्त्रियों के योगदान का वर्णन कीजिए।

4. समाजशास्त्र में संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक उपागम के महत्व को दर्शाइए।

12.9 संदर्भ ग्रन्थ -

1. मुखर्जी, रवीन्द्र नाथ, 1994, समकालीन उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धांत, दिल्ली: विवेक प्रकाशन

2. सिंधी, नरेंद्र कुमार, 2001, समाजशास्त्रीय सिद्धांत: विवेचन एवं व्याख्या, जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स

3. सिंधी, नरेंद्र कुमार व वसुधाकर गोस्वामी, 2000, समाजशास्त्र विवेचन, जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी

4. सिंह, जे.पी. 1999, सामाजिक परिवर्तन: स्वरूप एवं सिद्धांत, नई दिल्ली: प्रेटिस-हाल आफ इंडिया प्राइवेट लिमिटेड

5. दोषी, एस.एल. व एम.एस. त्रिवेदी, 2002, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धांत, जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स

6. गुप्ता, एम.एल. व डी.डी शर्मा, 1996, समाजशास्त्र, आगरा: साहित्य भवन पब्लिकेशन्स

इकाई-13 सामाजिक स्तरीकरण- अर्थ, विशेषताएं एवं स्वरूप

(Social Stratification–Meaning, Characteristics and forms)

इकाई की रूपरेखा

13.0 प्रस्तावना

13.1 उद्देश्य

13.2 सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ

13.3 सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएं

13.4 सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप

13.4.1 दास प्रथा

13.4.2 जागीर प्रथा

13.4.3 जाति व्यवस्था

13.4.4 वर्ग व्यवस्था

13.5 सारांश

13.6 बोध प्रश्न

12.7 निबन्धात्मक प्रश्न

13.8 पारिभाषिक शब्दावली

13.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

13.0 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरीकरण यानी ग़ैर-बराबरी वह व्यवस्था है जिसके अंतर्गत समाज के विभिन्न समूहों को क्रमशः उच्च से निम्न तक की स्थिति में रखा जाता है। इसे सामाजिक सोपान व्यवस्था या उच्चोधन व्यवस्था भी कहते हैं। स्तरीकरण समाज की विभिन्न प्रस्थितियों का क्रम विन्यास है। क्रम - विन्यास का आधार प्रस्थिति है जो कि सामाजिक मूल्यों पर निर्भर करती है। अतः वह विभेदीकरण जिसका आधार क्रम-विन्यास है स्तरीकरण कहलाता है। सामाजिक स्तरीकरण में उच्चतम से निम्नतम सामाजिक स्थिति वाले सभी समूहों का समावेश होता है।

सामाजिक स्तरीकरण शब्द का इस इकाई में विस्तार से अध्ययन करेंगे। सामाजिक स्तरण से तात्पर्य समाज में उच्चता एवं निम्नता, श्रेष्ठता एवं हीनता की भावना पाई जाती है जिसे सामाजिक स्तरण कहते हैं, तथा सामाजिक स्तरण के मूल तत्वों में सामाजिक विभेदीकरण, उच्चता एवं अधीनता की व्यवस्था, उच्चता एवं अधीनता की सामाजिक मान्यता से है। सामाजिक स्तरण की विशेषता में असमानता को प्रमुख रखा गया है। सामाजिक विभेदीकरण ही सामाजिक स्तरण का कारण है। सामाजिक स्तरण का समाज के लिए विशेष महत्व है। इससे आवश्यकता की पूर्ति, व्यक्तित्व का विकास, श्रम विभाजन, मानसिक संतोष आदि प्रदान होता है। सामाजिक स्तरण के स्वरूप के रूप में दास प्रथा, जागीर प्रथा, जाति प्रथा, वर्ग व्यवस्था आदि है।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपः-

- सामाजिक स्तरीकरण के अर्थ को जान सकेगें।
- सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताओं को जान सकेगें।
- सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप समझ पाएँगे
- सामाजिक स्तरीकरण का समाज के लिए क्या महत्व है।
- सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप-दास प्रथा, जागीर प्रथा, जाति व्यवस्था, वर्ग व्यवस्था आदि को जान सकते हैं।

13.2 सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ

सामाजिक स्तरीकरण समाजशास्त्र की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। स्तरीकरण शब्द समाजशास्त्र में 'भगर्भशास्त्र' से 1940 के दशक में आया है। जिस प्रकार मिट्टी की परतें होती हैं। उसी प्रकार समाज भी कई स्तरों में बंटा होता है। इस प्रकार समाज के समूहों एवं सदस्यों के विभिन्न स्तरों अर्थात् प्रत्येक समाज में प्रस्थितियां पाई जाती हैं, जिसमें उच्चता एवं निम्नता, श्रेष्ठता एवं हीनता की भावना पाई जाती है, जिसे स्तरीकरण कहते हैं। अतः स्तरीकरण एक सार्वभौमिक वास्तविकता है जो प्रायः प्रत्येक समाज में कम या अधिक मात्रा में पाया जाता है। सरल समाज में स्तरीकरण का रूप सरल जबकि जटिल समाज में जटिल सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक असमानता है, समाज का प्रस्थितियों में बंटवारा है।

रेमंड मूरे के अनुसार 'स्तरीकरण उच्चतर एवं निम्नतर सामाजिक इकाइयों में समाज का समांतर विभाजन है।'

टॉलकॉट पारसंस के शब्दों में 'सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ किसी सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों का ऊंचें एवं नीचे के क्रमाविन्यास में विभाजन हैं।'

जिंसबर्ट के अनुसार, 'सामाजिक स्तरीकरण से अभिप्राय समाज का विभिन्न स्थायी ऐसे श्रेणियों व समूहों में विभाजन है जो कि उच्चतर एवं अधीनता के संबंधों से परस्पर संबंध होते हैं।

सदरलैंड एवं वूडवार्ड के अनुसार, 'साधारणतया स्तरीकरण अतःक्रिया अथवा विभेदीकरण की प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कुछ व्यक्तियों को दूसरों की तुलना में उच्च स्थिति प्राप्त हो जाती है।'

ऑगबर्न एवं निमकॉक के शब्दों में, 'वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्तियों एवं समूहों को थोड़े बहुत स्थायी प्रस्थितियों के उच्चतम एवं निम्नता के क्रम में श्रेणीबद्ध किया जाता है, स्तरीकरण के नाम से जानी जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक स्तरीकरण द्वारा समाज विभित्रा उच्च एवं निम्न समूहों में विभाजित एवं व्यव्स्थित होता है तथा ये समूह परस्पर एक-दूसर से जुड़े होते है और सामाजिक एकता को बनाए रखते हुए समाज में स्थिरता कायम रखते है।

13.3 सामाजिक स्तरीकरण की विशेषतायें

सामाजिक स्तरीकरण की निम्नलिखित सामान्य विशेषताएं का उल्लेख किया जा सकता है -

- सामाजिक स्तरीकरण समाज की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जो प्रायः हर समाज में पाई जाती है।

- सामाजिक स्तरीकरण में व्यक्तियों को उनकी योग्यता व कार्य के मुताबिक अलग-अलग स्तरों में स्तरीकृत कर दिया जाता है जिससे समाज की सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है।
- सामाजिक स्तरीकरण का मूल कारण सामाजिक विभेदीकरण है जिससे समाज में लोगों में सामाजिक विभिन्नता उत्पन्न करते हुए उन्हें अलग-अलग भागों में स्तरीकृत किया जाता है।
- सामाजिक स्तरीकरण एक प्रक्रिया है जो समाज में निरंतर गति से चलती रहती है। व्यक्ति के जैसे-जैसे कार्य एवं योग्यताएं बदलती व विकसित होती जाती हैं उन्हें उन्ही रूपों में स्तरीकृत किया जाता है। उदाहरण के लिए, एक विद्यार्थी प्रोफेसर के रूप में भी स्तरीकृत हो सकता है अगर उसमें वे योग्यताएं आ जाती हैं।
- सामाजिक स्तरीकरण से समाज में विभिन्न श्रेणियों का विकास होता है, जिन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त रहती है तथा जो अपेक्षाकृत स्थायी होती है।
- सामाजिक स्तरीकरण समाज का विभिन्न इकाइयों में बंटवारा है जिससे समस्त इकाइयां उच्चतर एवं निम्नतर के क्रम पाया जाता है।
- सामाजिक स्तरीकरण के कारण दो भिन्न-भिन्न वर्गो में भेद होता है, परंतु एक वर्ग के लोगों में एक सामूहिक चेतना पाई जाती है जिसको वर्ग-चेतना (Class Consciousness) कहते हैं।
- सामाजिक स्तरीकरण में कहीं भी खुले या बंद वर्ग नहीं मिलते। जाति और सामाजिक वर्ग को सामाजिक स्तरीकरण के उदाहरण के रूप में अवश्य माना जा सकता है परंतु न जाति एक पूरी तरह बंद वर्ग है और न वर्ग एक तरह से खुली श्रेणी है। वास्तव में सामाजिक स्तरीकरण में वर्गों के बीच विभाजक रेखा खिंचना बड़ा कठिन है। कहां कौन-सा वर्ग समाप्त होता है और कौन सा वर्ग प्रारंभ होता है, इसका एकदम निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता। किसी भी समाज में विभिन्न वर्गों में विवाह आदि की न तो पूरी छूट है और न कहीं पूरा प्रतिबंध। अतः वर्गों का अभाव सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख लक्षण है।

13.4 सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप

बोटोमोर ने मानव इतिहास में प्रचलित सामाजिक स्तरीकरण के चार प्रमुख स्वरूपों का उल्लेख किया है-

i) दास प्रथा

ii) जागीर व्यवस्था

iii) जाति व्यवस्था

iv) वर्ग-व्यवस्था

13.4.1 दास-प्रथा

मानव इतिहास में दास-प्रथा भी एक महत्वपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप रहा है। यह असमानता के चरम रूप का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें व्यक्तियों के कुछ समूह पूर्ण रूप से अधिकारों से वंचित रहते हैं। एल.टी.हॉबहाउस ने कहा है कि 'दास वह व्यक्ति है जिसे कानून और परंपरा दोनों दूसरे की संपत्ति मानते हैं। कुछ विशिष्ट स्थिति मे वह पूर्णतः अधिकार विहीन है तथा कुछ स्थितियों में उसकी रक्षा ठीक उसी प्रकार की जाती है जैसे एक बैल या गधे की। इस प्रकार दास-प्रथा असमानता की कल्पनातीत स्थिति है। यों तो दास-प्रथा के उदाहरण इतिहास में समय-समय पर मिलते रहे हैं किंतु विशेष रूप से यूनानी व रोमन साम्राज्यों में इसका अधिक प्रचलन था। इसके अलावा 18 वीं व 19 वीं शताब्दी में संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी भागों में दास लोग अधिक संख्या में रखे जाते रहे हैं। बोटोमोर के अुनसार दास-प्रथा भी औद्योगिक व्यवस्था के समान रही है क्योंकि इसने मालिकों को दासों से एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य लेने को प्रोत्साहित किया था जिससे मालिकों की जीवन-शैली में काफी अंतर आया। आधुनिक युग में मानव-अधिकार और प्रजातांत्रिक विचारधारा के कारण संस्तरण का यह स्वरूप देखने को नहीं मिलता है। यह समूह भेद का आदिम स्तर है।

13.4.2 जागीर व्यवस्था

मध्य युग में जागीरों की प्रथा थी। ये जागीरें प्रथा व कानून द्वारा मान्य थीं। इसमें तीन वर्ग होते थे- पादरी, सरदार तथा साधारण जनता। प्रत्येक वर्ग की जीवन-शैली एवं संस्कृति भिन्न थी। सामाजिक संस्तरण में सर्वोच्च स्थान पादरियों का था, क्योंकि उस समय राज्य भी चर्च के अधीन था। बोटोमोर जागीरों की तीन विशेषताएं बताते हैं:- (अ) हर जागीर की एक परिभाषित प्रस्थिति थी। (ब) जागीरों में स्पष्ट श्रम-विभाजन था, (स) जागीरें राजनीतिक समूह थीं। ये तीनों ही विशेषताएं जागीरों को स्तरों में बांटती हैं और उनको स्तरीकरण की ठोस भूमिका प्रदान करती हैं।

13.4.3 जाति व्यवस्था

जाति व्यवस्था भी सामाजिक स्तरण का महत्वपूर्ण स्वरूप है। जाति शब्द का उल्लेख होते ही हमारा ध्यान भारतीय जाति व्यवस्था की ओर जाता है, इसका कारण यह नहीं है कि यह केवल भारत में ही विद्यमान है वरन् इसका कारण यह है कि भारत में जाति-प्रथा की पराकष्ठा है।

जाति भारतीय सामाजिक व्यवस्था में पाई जाने वाले संस्तरण का एक अनुपम स्वरूप है। इसका अध्ययन अनेक विद्वानों द्वारा किया गया है। ए.आर. वाडिया का मत है कि जाति शब्द अंग्रेज़ी भाषा के Caste का हिंदी अनुवाद है ;Caste की व्युत्पित्ति पुर्तगाली भाषा के ;Casta शब्द से हुई है जिसका अर्थ मत, विभेद तथा जाति से लिया जाता है। जाति शब्द की उत्पत्ति का पता सन् 1665 में ग्रेसिया डी ओरेटा नामक विद्वान ने लगाया।

इस प्रकार, जाति जन्म पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण की वह गतिशील व्यवस्था है जो अपने सदस्यों पर विवाह, खान-पान, व्यवसाय तथा सामाजिक-सहवास संबंधी प्रतिबंध लगाती है।

(1) डॉ. जी.एम.धुर्ये ने जाति की छह विशेषताओं का उल्लेख किया है-

i) समाज का खंडात्मक विभाजन

ii) संस्तरण

iii) भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबंध

iv) विभिन्न जातियों की सामाजिक एवं धार्मिक नियोग्ताएं तथा विशेषाधिकार

v) पेशों के अप्रतिबंधित चुनाव का अभाव

vi) विवाह संबंधी प्रतिबंध

अन्य विशेषताएं -

(i) जन्मजात सदस्यता

(ii) एक विशिष्ट नाम

(iii) जाति का राजनीति रूप

(2) किंग्सले डेविस के अनुसार जाति व्यवस्था की सात विशेषताएं हैं:-

(i) जाति की सदस्यता वंशानुगत होती हैः-

(ii) जाति की सदस्यता जन्मजात रहती है।

(iii) जाति अंतर्विवाही समूह है,

(iv) जाति अपने सदस्यों पर एक-दूसरे के साथ खान-पान, सामाजिक सहवास, सहयोग, संपर्कों आदि पर प्रतिबंध लगाती है।

(v) प्रत्येक जाति का एक नाम होता है जो कि जातीय चेतना को बल देता है।

(vi) प्रत्येक जाति का परंपरागत व्यवसाय होता है,

(vii) प्रत्येक जाति के मध्य श्रेष्ठता व हीनता की भावना पाई जाती है।

(3) **मैक्सबेवर** के अनुसारः- मैक्सवेबर ने जाति-प्रणाली को इसकी विशेषताओं के आधार पर परिभाषित करने का प्रयत्न किया। उसने जाति को प्रस्थिति समूह के रूप में देखा अर्थात् ऐसा समूह जिसमें सदस्यों को उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति तथा जीवन-स्तर के आधार पर जाना जाता है। इस प्रकार के समूहों पर उनकी सामाजिक अंतःक्रिया को सुनिश्चित करने के लिए प्रतिबंध लगाए जाते थे। उदाहरण के लिए, कौन किससे शादी करेगा और एक व्यक्ति क्या काम कर सकता है ? समय के अंतराल के बाद इसने जाति विशेषताओं का रूप ले लिया क्योंकि इन विशेषताओं ने जातियों को परिभाषित करना आसान बना दिया। सामाजिक संगठन ब्राह्मण विचारधारा पर आधारित था। हिंदुओं के कर्म, धर्म एवं संस्कार के दार्शनिक विचारों की ओर संकेत करता है। हिंदू मान्यता के अनुसार, प्रत्येक पवित्र हिंदू अपने पूर्व जन्म के कर्म एवं धर्म के कारण विशेष जाति कुल में जन्म लेता है। अतः प्रत्येक जाति के लिए अपनी पहचान को कायम रखना अति आवश्यक हो जाता है और उसे यह भी चेष्टा करनी पड़ती है कि समाज में उसकी स्थिति न गिरे।

(4) **डॉ. एम.एन. श्रीनिवास**:- श्री निवास भी जाति को एक खंडात्मक व्यवस्था के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार भी प्रत्येक जाति उपजातियों में बंटीं हैं। अपनी व्याख्या में वे निम्न विशेषताओं का उल्लेख करते हैं:-

- संस्तरण
- व्यावसायिक संघ
- खानपान, पोशाक एवं भाषा व प्रथा
- प्रदूषण
- जाति पंचायत व सभाएं
- संस्कृतिकरण
- प्रभुत्वशील जातिः- इनके निर्धारण के तीन आधार हैं:-
- संख्यात्मक
- भूस्वामित्व के माध्यम से आर्थिक शक्ति
- राजनीतिक शक्ति।

(5) **लुई ड्यूमां के विचार**:- जाति पर काफी कुछ अध्ययन फ्रांसिसी विद्वान लुई ड्यूमां (Louis Dumont) ने किया है जिसकी चर्चा उन्होंने अपनी पुस्तक होमो हायरारकिकस (1970) में किया है। ड्यूमां ने जाति के तीन प्रमुख गुणों पर बल दिया है-

- सोपानक्रम
- दूरी
- श्रम-विभाजन

ड्यूमां भी जाति को विभक्त रूप में देखते हैं। उसके अनुसार इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जाति सिर्फ उपभागों में बंटीं है और प्रत्येक उपभाग एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं। बल्कि प्रत्येक खंड अपने ऊपर वाले खंड का भाग है। यह कुछ-कुछ प्याज के छिलके की भांति है। एक छिलका उतारने पर एक नई परत सामने आती है, जिसके नीचे वैसी ही कई और परतें होती हैं। ये सभी परतें मिलकर प्याज बनती है।

ड्यूमां के अनुसार, जाति व्यवस्था खंडों का योग है। प्रत्येक खंड दूसरे खंड के साथ सोपानबद्ध संबंध में व्यवस्थित होता है तथा इसमें दूसरा खंड शामिल होता है। जातियों की इस असमानता एवं संबंध को ड्यूमा ने 'इंकंपासिंग' व 'इंकंपास्क' कहा है।

इसके साथ ही ड्यूमां द्वारा दिया गया जाति का द्वितीय सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण दूरी है। यह जाति के शुचिता अथवा प्रदूषण सोपान क्रम का द्योतक है तथा इसके साथ ही यह जाति की कर्मकांडीय प्रस्थिति को बनाए रखने में भी सहायता करता है। शुचिता व प्रदूषण का सिद्धांत खान-पान व विवाह संबंधी क्षेत्रों में जातियों के संबंधों का आधार है।

13.4.4 वर्ग व्यवस्था

वर्ग भी सामाजिक स्तरीकरण का एक सार्वभौमिक स्वरूप है। विश्व में कोई भी ऐसा समाज नहीं जहां वर्ग न पाया जाता हो। वर्तमान समाज में वर्ग स्तरीकरण का प्रमुख स्वरूप हो गया है। मार्क्स व्यक्ति को सामाजिक प्राणी के स्थान पर वर्ग-प्राणी कहना अधिक उपयुक्त् मानते हैं। वर्ग भी समाज में आदिकाल से प्रचलित रहा है। आयु, लिंग, शिक्षा, आय आदि के आधार पर वर्ग बनते रहे हैं। वर्ग की एक प्रमुख विशेषता है कि इसके निर्माण का आधार जन्म न होकर अन्य आधार है।

- **मैक्सवेबर**:- 'हम एक समूह को तब तक वर्ग कहते हैं जब तक उस समूह के लोगों को जीवन के कुछ अवसर समान रूप से प्राप्त हों, जहां तक कि यह समूह वस्तुओं पर अधिकार या आमदनी की सुविधाओं से

संबंधित आर्थिक हितों द्वारा पूर्णतया निर्धारित तथा वस्तुओं या श्रमिक बाजारों की अवस्थाओं के अनुरूप हों।'

- **मार्क्सः-** 'जीविका-उपार्जन के विभिन्न साधनों के कारण मनुष्य पृथक-पृथक वर्गों में विभाजित हो जाते हैं। उनके अनुसार एक सामाजिक वर्ग को उसके उत्पादन के साधनों और संपत्ति के वितरण के साथ होने वाले संबंधों के संदर्भ में ही परिभाषित किया जा सकता है।'

वर्ग व्यवस्था की विशेषताएं-

(i) समूहों का उतार-चढ़ाव Hierarchy of Group- समाज में वर्गों की एक श्रेणा होती है जिसमें कुछ वर्ग ऊपर एवं कुछ वर्ग मध्यम एवं कुछ निम्नतम स्थान पर होते हैं।

(ii) समान प्रस्थिति (Equal Status)- एक सामाजिक वर्ग के सदस्यों की समान सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त होती है। जैसे- एक क्लर्क वर्ग, अधिकारी वर्ग, मजदूर एवं पूंजीपति वर्ग आदि।

(iii) ऊंच-नीच की भावना

(iv) वर्ग-चेतना

(v) जन्म का महत्व नहीं

(vii) कम स्थिरता

(viii) पूर्णतया अर्जित

13.5 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं उसके विभिन्न आधारों को समझने का प्रयास किया है। सभी समाजों में सामाजिक असमानता देखी जा सकती है। प्रत्येक समाज अपनी सीमित वस्तुओं और सेवाओं को अपने सदस्यों के बीच वितरित करता है। इससे सामाजिक असमानता उत्पन्न होती है। इस इकाई में आपने सामाजिक स्तरीकरण के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त की। सामाजिक स्तरीकरण के मूल तत्व के बारे में, सामाजिक विभेदीकरण से किस तरह असमानता के रूप में बदलकर सामाजिक स्तरीकरण में बदलता है। सामाजिक स्तरीकरण का समाज के लिए क्या महत्व है के बारे में जानकारी प्राप्त हुई। सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूपों के बारे मे जैसे दास

प्रथा, जागीर प्रथा, जाति प्रथा, वर्ग व्यवस्था आदि के बारे में कि ये कैसे सामाजिक स्तरीकरण का रूप धारण कर लेता है

13.6 बोध प्रश्न

1. सामाजिक स्तरीकरण का क्या अर्थ है?
2. सामाजिक स्तरीकरण के मूल तत्व क्या हैं?
3. सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएं बताईए?
4. जाति व्यवस्था को स्पष्ट कीजिए।

13.6 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए एवं इसकी विशेषताएं बताईए?
2. सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ बताइये एवं सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप का वर्णन कीजिए।

13.7 पारिभाषिक शब्दावली

1. सामाजिक असमानता: विकास के क्रम में समाज द्वारा लोगों के बीच स्थापित असमानता
2. सामाजिक स्तरीकरण: वह सामाजिक व्यवस्था जिसके अंतर्गत समाज के विभिन्न समूहों को क्रमश: उच्च व निम्न के आधार पर स्तरीकृत होना।

13.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1 बेंडिक्स, आर. एवं लिपसेट, एस. (संपादित), 1967 क्लास, स्टैटस एंड पावर सोशल स्ट्रेटीफिकेशन इन कंपेरेटिव पर्सपेक्टिव, लंदन: राउटलेज् एंड केगेज पॉल

2. सिंह, योगेंद्र 1997 सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एंड सोशल चेज इंडिया, नई दिल्ली, मनोहर

3. शर्मा, के.एल. 1980 एसेंज ऑन सोशल स्ट्रेटीफिकेशन, जयपुर रावत पब्लिकेशंस

4. अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

इकाई-14 सामाजिक स्तरीकरण- आधार एवं सिद्धांत

(Social Stratification– Basis and Theories)

इकाई की रूपरेखा

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न अध्ययनों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

14.3 सामाजिक स्तरीकरण के प्राणीशास्त्रीय आधार

14.3.1 लिंग पर आधारित स्तरीकरण

14.3.2 आयु पर आधारित स्तरीकरण

14.3.3 प्रजाति के आधार पर स्तरीकरण

14.4 सामाजिक-सांस्कृतिक आधार

14.4.1 आर्थिक आधार

14.4.2 राजनीतिक आधार

14.4.3 व्यावसायिक आधार

14.4.4 धार्मिक आधार

14.5 सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत

14.5.1 मार्क्सवादी सिद्धांत

14.5.2 प्रकार्यवादी सिद्धांत

14.5.3 ऐतिहासिक स्तरीकरण का सिद्धांत

14.6 सारांश

14.7 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

14.8 पारिभाषिक शब्दावली

14.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

14.10 निबंधात्मक प्रश्न

14.0 प्रस्तावना

मानव समाज में ऐसा कोई युग नहीं मिलता जिसमें सभी लोगों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति एक समान रही हो। सामाजिक स्तरीकरण किसी न किसी रूप में सभी समाजों में सार्वभौमिक रूप में देखा जा सकता है। 'स्तरीकरण' शब्द समाजशास्त्र में भूगर्भशास्त्र से लिया गया है। भूगर्भशास्त्र में चट्टानों को विभिन्न स्तरों में बांटा जाता है। समाज में भी इसी प्रकार अनेक सामाजिक परतें पाई जाती हैं। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों को आय, संपत्ति, व्यवसाय, जाति, पद आदि आधारों पर उच्च व निम्न की श्रेणी में विभाजित करता है। यह प्रत्येक विभाजन एक परत के समान है और ये सभी परतें जब उच्चता और निम्नता के क्रम में रखी जाती है तो इसे हम 'सामाजिक स्तरीकरण' के नाम से समझते हैं।

अतः सामाजिक स्तरीकरण एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें समाज को विभिन्न उच्च और निम्न वर्गों में विभाजित करने व उसी के अनुसार सामाजिक संरचना में उनकी स्थिति एवं भूमिका को निर्धारित करती है। सामाजिक स्तरीकरण विभिन्न सामाजिक समूहों में न केवल सामाजिक स्थिति या पद को बल्कि सामाजिक अधिकार, शक्ति, सत्ता व निर्योग्यताओं को भी विभाजित करने की एक सामाजिक व्यवस्था है। कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक स्तरण के सिद्धांत भी दिए है जिनमें, मार्क्सवादी सिद्धांत, ऐतिहासिक स्तरण का सिद्धांत, प्रकार्यवादी सामाजिक स्तरण का सिद्धांत आदि हैं।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपः-

- सामाजिक स्तरीकरण को जान सकेगें।
- सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न अध्ययनों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकेंगे।
- सामाजिक स्तरीकरण के प्राणीशास्त्रीय आधार की व्यख्या कर सकेंगे यथाः-लिंग पर आधारित स्तरीकरण, आयु पर आधारित स्तरीकरण, प्रजाति के आधार पर स्तरीकरण आदि।
- सामाजिक स्तरण के विभिन्न सिद्धांतों जैसे, प्रकार्यवादी सिद्धांत, मार्क्सवादी सिद्धांत,

  ऐतिहासिक सिद्धांत आदि को जान सकते हैं।

14.2 सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न अध्ययनों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

सामाजिक स्तरीकरण की सार्वभौमिकता व सार्वकालिकता की विशेषता ने इसे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से एक महत्वूपर्ण स्थान प्रदान किया है। सामाजिक असमानता के क्षेत्र ने सर्वप्रथम हमें हिब्रु पैगंबरों के विचार मिलते हैं। इन्होंने धन के आधिक्य एवं संचय की प्रवृति को नकारा। वस्तुतः असमानता के अध्ययन का प्रारंभ यूनानी दार्शनिक प्लेटो एवं अरस्तू से मानी जा सकती है। इन विद्वानों ने सामाजिक असमानता को उस सीमा तक स्वीकार किया जहां उसका संबंध प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य में जन्मजात असमानता से है। प्लेटो ने समाज की अवधारणा और वर्ग विभाजन का तथ्य सामने रखा। प्लेटो के अनुसार किसी भी व्यक्ति की हैसियत का निर्धारण उसकी प्राकृतिक योग्यता बुद्धिमत्ता और शारीरिक शक्ति पर निर्भर करता है। अरस्तू का मानना था कि व्यक्ति प्रकृति से ही असमान होते हैं। यद्यपि प्लेटो एवं अरस्तू ने सामाजिक असमानता की नहीं बल्कि प्राकृतिक असमानता की बात कही थी।

असमानता की उत्पत्ति की सर्वप्रथम व्याख्या जे.जे. रूसों ने प्रस्तुत की थी। रूसों के अनुसार व्यक्तिगत संपत्ति के कारण असमानता उत्पन्न हुई। वैयक्तिक संपत्ति के संदर्भ में असमानता की यह व्याख्या रूसों से लेकर कार्ल मार्क्स तक मान्य रही। कार्ल मार्क्स ने चल और अचल संपत्ति के संदर्भ में वर्ग उत्पत्ति की व्याख्या कर सामाजिक स्तरीकरण के समाजशास्त्र को एक नवीन स्वरूप प्रदान किया। संपत्ति के अतिरिक्त कार्ल मार्क्स श्रम विभाजन को भी सामाजिक स्तरीकरण का आधार मानते हैं। एमिल दुर्खीम ने भी सामाजिक स्तरीकरण को श्रम विभाजन के आधार पर समझने का प्रयास किया। दुर्खीम के अनुसार आदिम समाज में श्रम विभाजन बिल्कुल कम था। व्यक्ति और किसी समूह के सदस्य समान मूल्यों और भावनाओं पर आधारित थे और दुर्खीम उन्हें समान रूप से पवित्र मानते थे। यह एकीकृत समाज था क्योंकि इसमें समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच किसी प्रकार की असमानता नहीं थी। दुर्खीम के अनुसार जनसंख्या का दबाव बढ़ने और समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच सामाजिक आदान-प्रदान बढ़ने के कारण सरल समाजों की एकीकृत संरचना में परिवर्तन आने लगा। सामाजिक भेदभाव के कारण असमानता बढ़ने लगी जिससे

समाज में श्रम विभाजन एक अनिवार्यता हो गई। सामाजिक स्तरीकरण में सर्वप्रथम प्रकार्यात्मक उपागम या दृष्टिकोण का अध्ययन दुर्खीम ने अपने अध्ययन समाज में श्रम विभाजन में किया था। टॉलकॉट पारसंस, किंग्सले डेविस और विलबर्ट ई.मूर ने सामाजिक स्तरीकरण में जिस प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की चर्चा की है, उसका मूल दुर्खीम के सिद्धांतों में देखा जा सकता है। इन समाजशास्त्रियों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में देखा जा सकता है। सामाजिक स्तरीकरण का व्यवस्थित अध्ययन विगत पांच दशकों से ही शुरू हुआ है।

14.3 सामाजिक स्तरीकरण के प्राणीशास्त्रीय आधार

इकाई के इस भाग के अंतर्गत सामाजिक स्तरीकरण को विभिन्न प्राणीशास्त्रीय आधारों पर जैसे: लिंग, आयु, प्रजाति एवं जन्म के आधार पर निम्न प्रकार से समझा जा सकता है।

14.3.1 लिंग पर आधारित स्तरीकरण: प्राणीशास्त्रीय सामाजिक स्तरीकरण का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण आधार लिंग है। सामाजिक स्तरीकरण का यह आधार सबसे अधिक प्राचीन एवं सरल है। लिंग के आधार पर स्तरीकरण के दो स्त्री-पुरूष सामान्य स्तर माने जाते हैं। स्त्री और पुरूष में भेद प्राणीशास्त्रीय अधिक है, सामाजिक-सांस्कृतिक कम। प्रत्येक समाज या संस्कृति अपने स्त्री और पुरूष सदस्यों को एक निश्चित प्रस्थिति प्रदान करती है और उसी के अनुसार स्त्री और पुरूष समूहों में एक उच्च व निम्न का संस्तरण हो जाता है। सभ्यता काल से ही मानव समाज में स्त्री-पुरूष की सामाजिक प्रस्थिति तथा भूमिका का निर्धारण लिंग भेद के आधार पर किया जाता रहा है। मातृसत्तात्मक समाजों में स्त्रियों की प्रस्थिति पुरूषों की अपेक्षा अधिक उच्चतर होती थी। पितृसत्तात्मक समाजों में पुरूषों की प्रस्थिति स्त्रियों की तुलना में उच्चतर मानी जाती है।

14.3.2 आयु पर आधारित स्तरीकरण: आयु के आधार पर स्तरीकरण के चार सामान्य स्तर हैं - शिशु, किशोर, युवा तथा प्रौढ़ या वृद्धाकिसी भी समाज में एक छोटे बच्चे की प्रस्थिति वह नहीं हो सकती जो कि एक प्रौढ़ या वृद्धजनों की होती है। अतः सभी मानव समाजों में आयु के आधार पर उच्च एवं निम्न स्तरों में स्तरीकरण स्थापित करने की प्रक्रिया देखी जा सकती है। आयु के बढ़ने के साथ-साथ व्यक्ति अनुभव व ज्ञान को भी अधिकाधिक अपने में समेटने में सफल होता है इस कारण उसकी प्रस्थिति उच्च हो जाती है। भारत में संयुक्त परिवार का मुखिया वह सदस्य होता है जिसकी आयु परिवार में सबसे अधिक होती है। अतः स्पष्ट है कि आयु के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण में सर्वोच्च स्थान प्रौढ़ या वृद्धजनों को और उसके बाद क्रमशः युवा, किशोर तथा शिशुजनों का होता है।

14.3.3 प्रजाति के आधार पर स्तरीकरण: प्राणीशास्त्रीय सामाजिक स्तरीकरण का तृतीय महत्वपूर्ण आधार प्रजातीय है। प्रजाति ऐसे मनुष्यों का समूह है जिसमें कुछ जन्मानुगत शारीरिक लक्षण सामान्य होते हैं। प्रजातीय विभेदों के आधार पर स्तरीकरण मानवीय भ्रांति का एक उदाहरण है। यद्यपि इससे मानव समाज को हानि

पहुंची है, फिर भी यह भ्रांति आज भी किसी न किसी रूप में देखी जा सकती है। इस भ्रांत धारण के अनुसार यह माना जाता है कि प्रजातियों में श्रेष्ठ प्रजाति और निम्न प्रजाति होती है और इसी के आधार पर एक प्रजातीय स्तरीकरण भी प्रस्तुत किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि प्रजातियों में श्वेत प्रजाति सर्वश्रेष्ठ है तथा नीग्रोयाड निम्न प्रजाति है। इसी प्रजातीय श्रेष्ठता की धारणा के आधार पर ही एक प्रजाति अपने से निम्न प्रजाति से विवाह आदि नहीं करती है। आज इस तरह के प्रजातीय स्तरीकरण को प्रजातिवाद कहते हैं, न कोई प्रजाति ऊंची होती है, न कोई प्रजाति नीची। प्रजातियां सभी समान होती हैं। हिटलर ने प्रजाति की उच्चता में संसार से बड़े अन्याय किए थे। उन्होंने कहा था कि आर्य प्रजाति ही सभ्य है। इसे अब स्वीकार नहीं किया जाता।

14.4 सामाजिक - सांस्कृतिक आधार

सांस्कृतिक आधारों पर भी प्रत्येक समाज में उच्च - निम्न का संस्तरण किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है।

14.4.1 आर्थिक आधार

आर्थिक आधार के अंतर्गत संपत्ति को प्रमुख स्थान दिया जाता है। आधुनिक पूंजीवादी समाजों में इसका महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। पूंजीवादी व औद्योगिक समाजों में आयु, लिंग आदि का स्तरीकरण के आधारों से विशेष संबंध नहीं है। आर्थिक संपन्नता के आधार पर ही लोगों को उच्च, मध्य व निम्न वर्ग में विभाजित किया जाता है। कार्ल मार्क्स आदि विद्वानों का कथन है कि प्राचीन काल से ही आर्थिक आधारों पर स्तरीकरण देखा जा सकता है। समाज में प्रारम्भ से ही दो वर्ग रहे हैं। एक तो वह वर्ग जिसका संपत्ति, पूंजी या उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है, और दूसरा वह जो कि सर्वहारा होता है अर्थात् जो संपत्ति, पूंजी या उत्पादन के साधनों का अधिकारी नहीं होता है अर्थात जो केवल अपना श्रम बेचता है। पहले वर्ग की स्थिति संपत्ति पर अधिकार होने के कारण समाज में उच्च होती है जबकि दूसरे वर्ग की स्थिति निम्न होती है, इसीलिए उसे उच्च वर्ग के आर्थिक शोषण का शिकार बनना पड़ता है।

मैक्स वेबर का कथन है कि आर्थिक स्तरीकरण संपत्ति पर अधिकार होने और न होने के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार समाज में दो आर्थिक स्थिति वाले समूह होते हैं - एक तो संपत्ति पर अधिकार रखने वाला तथा दूसरा अपनी सेवाएं बेचने वाला। प्रित्रिम सोरोकिन के अनुसार आर्थिक स्तरीकरण का आधार आय व संपत्ति होने के कारण इसमें उतार-चढ़ाव मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं - प्रथम तो समग्र रूप में एक समूह की आर्थिक स्थिति का चढ़ाव अथवा उतार, और द्वितीय एक समाज के अंतर्गत आर्थिक स्तरीकरण की उच्चता व आकार का चढ़ाव-उतार। इस आर्थिक उतार-चढ़ाव के संबंध में सोरोकिन ने कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष इस प्रकार दिए हैं - (i) औसत संपत्ति तथा आय अलग-अलग समाज व समूह में अलग-अलग होते हैं (ii) औसत संपत्ति तथा आय एक ही समाज या समूह में अलग-अलग होते हैं (iii) आर्थिक समृद्वि का बढ़ना या घटना अनेक कारकों तथा परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

14.4.2 राजनीतिक आधार

आदिम समाजों की राजनीतिक संरचना व संगठन अत्यंत सरल होती थी। इसीलिए राजनीतिक स्तरीकरण भी बहुत कम व सरल रूप में देखा जाता था, जैसे वंशानुगत राजा और मुखिया आदि। सभ्यता के विकास व समाज के आकार व प्रकार में विस्तार के साथ-साथ जैसे-जैसे राजनीतिक संरचना व संगठन में जटिलता बढ़ती गई वैसे-वैसे राजनीतिक स्तरीकरण भी जटिल होता गया। वर्तमान में जिस प्रकार की सरकार या शासन व्यवस्था है, जैसे प्रजातंत्र, तानाशाही आदि उसी के अनुसार राजनीतिक क्षेत्र में स्थितियों का स्तरीकरण है। यह राजनीतिक स्तरीकरण भी स्थायी नहीं होता बल्कि राजनीतिक परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ इस स्तरीकरण के प्रकार तथा स्वरूप में भी अंतर आ जाता है। उदाहरणार्थ केंद्र या राज्य में कुछ समय पहले उपप्रधानमंत्री या उपमुख्यमंत्री का कोई पद नहीं होता था। परंतु भारत की राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप इन पदों का भी अब अपना महत्व है। इस संबंध में सोरोकिन के कुछ निष्कर्ष इस प्रकार हैं - (i) जब एक राजनीतिक संगठन का आकार बढ़ता है अर्थात जब उसकी सदस्यता बढ़ती है तो राजनीतिक स्तरीकरण भी बढ़ जाता है , इसके विपरीत संगठन का आकार घटने से स्तरीकरण भी कम हो जाता है। (ii) जब राजनीतिक संगठन के सदस्यों में भिन्नता बढ़ती या घटती है तो राजनीतिक स्तरीकरण भी विस्तृत या संकुचित हो जाता है।

14.4.3 व्यावसायिक आधार

समाजशास्त्री सोरोकिन ने व्यावसायिक स्तरीकरण को दो मुख्य आधारों में बांटा हैः (i)अंतर्व्यावसायिक स्तरीकरण, (ii) अंत: व्यावसायिक स्तरीकरण। प्रथम प्रकार के व्यावसायिक स्तरीकरण को विभिन्न व्यवसायों की उच्चता या निम्नता के आधार पर समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ ,अपने समाज में एक डाक्टर के पेशे का स्तर एक लिपिक के पेशे के स्तर से उच्च माना जाता है। इसी प्रकार से भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के अंतर्गत ब्राह्मणों के व्यवसाय को उच्च या सर्वश्रेष्ठ माना जाता है जबकि शूद्रों के व्यवसाय को निम्न समझा जाता है। दूसरे प्रकार का व्यावसायिक स्तरीकरण अंत: व्यावसायिक स्तरीकरण है जिसमें एक ही प्रकार के व्यवसाय में विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों का होना। एक ही प्रकार का पेशा करने वाले सभी व्यक्तियों की स्थिति एक समान न होकर, उनमें भी आपस में उच्च-निम्न का एक संस्तरण होता है सोरोकिन के अनुसार किसी भी व्यावसायिक समूह के सदस्य मुख्यतः तीन स्तरों में विभाजित होते हैं -

प्रथम व्यवस्थापक या मालिक जो कि आर्थिक तौर पर स्वतंत्र होते हैं और अपने व्यवसाय व कर्मचारियों के संगठन व नियंत्रण के मामले में स्वयं ही सर्वोच्च अधिकारी होते हैं।

द्वितीय उच्चतर श्रेणी के कर्मचारी जैसे - निदेशक, मैनेजर आदि वे व्यवसाय के स्वयं मालिक नहीं होते इनका अपना एक मालिक होता है, वे अपनी सेवाओं को बेचते हैं और वेतन प्राप्त करते हैं। तृतीय वेतन भोगी साधारण कर्मचारी जो कि उच्चतर श्रेणी के कर्मचारियों की भांति वेतन के बदले में अपनी सेवाएं देते हैं लेकिन उनका वेतन उच्चस्तरीय कर्मचारियों से कम होता है और उन्हें अधीनस्थ रहकर कार्य करना पड़ता है।

इन प्रमुख स्तरों के अतिरिक्त विभिन्न व्यवसायों में उनकी प्रवृति के अनुसार अन्य अनेक अंत: व्यावसायिक स्तरीकरण हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, डाक विभागीय कर्मचारी के रूप में सर्वोच्च पद पर पोस्ट मास्टर जनरल, डाक अधीक्षक, पोस्ट-मास्टर, सहायक पोस्ट-मास्टर, इंस्पेक्टर, क्लर्क व पोस्टमैन आदि का स्थान होता है। विशेष योग्यता, कुशलता, सेवा की अवधि आदि के आधार पर अंत: व्यावसायिक स्थिति उच्च अर्थात पदोन्नति हो सकती है। उसी प्रकार से अकुशलता या अन्य कारणों के आधार पर एक व्यक्ति वर्तमान पद से पदच्युत भी किया जा सकता है।

14.4.4 धार्मिक आधार

धार्मिक आधार सामाजिक स्तरीकरण का महत्वपूर्ण आधार है। धार्मिक संगठनों के अंतर्गत भी स्तरीकरण होता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण ईसाई धार्मिक संगठन है। ईसाई धर्म विश्व का एक अत्यंत संगठित धर्म है और इसीलिए इस संगठन ने अपनी धार्मिक व्यवस्था को सुचारू रूप में बनाए रखने के लिए अपने धार्मिक अधिकारियों में एक संस्तरण बना रखा है जिसके शीर्ष पर पोप का स्थान है। ईसाई धर्म का स्तरीकरण तो एक उदाहरण मात्र है। लगभग सभी धर्मों में थोड़ा बहुत स्तरीकरण तो होता ही है। हिंदु धर्म में शंकराचार्य होते हैं, जैन धर्म में तीर्थंकर होते हैं लेकिन कोई भी धर्म किसी दूसरे धर्म से न तो ऊंचा होता है और न नीचा। धर्म सभी समान होते हैं। इसलिए धर्मों की तुलना नहीं की जाती।

14.5 सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत

सामाजिक स्तरीकरण क्यों और किन कारणों से निर्धारित होती है। इस संबंध में विभिन्न विद्वानों ने जो विचार व्यक्त किए हैं, उन्हें सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत के नाम से संबोधित किया जाता है। बोटोमोर ने स्तरीकरण के सिद्धांत को निम्न तीन भागों में बांटा है:-

1) मार्क्सवादी सिद्धांत

2) प्रकार्यवादी सिद्धांत

3) ऐतिहासिक स्तरीकरण का सिद्धांत

पारसंस तथा डेविस व मूर के विचारों को प्रकार्यवादी सिद्धांत के अंतर्गत सम्मिलित किया जाता है। मैक्सवेबर तथा वार्नर को ऐतिहासिक स्तरीकरण के सिद्धांत में सम्मिलित किया जाता है। मार्क्सवादी सिद्धांत के अंतर्गत कार्ल मार्क्स को रखा गया है।

14.5.1 मार्क्सवादी स्तरीकरण का सिद्धांत

कार्ल मार्क्स का सिद्धांत -

कार्ल मार्क्स का सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धांत उनकी वर्ग की अवधारणा पर आधारित है। मार्क्स का विचार है कि समाज में सामाजिक स्तरीकरण का मूल कारण उत्पादन तथा आर्थिक शक्तियां हैं। आर्थिक संरचना सामाजिक संरचना का निर्माण करती है, इसलिए सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति उस समाज में पाई जाने वाली उत्पादन की विधियों तथा आर्थिक शक्तियों पर निर्भर करती है। प्रौद्योगिकी उत्पादन विधि को तथा उत्पादन विधि की अर्थव्यवस्था को निर्धारित करती है, जिनसे समाज में वर्ग-व्यवस्था का जन्म होता है। वर्ग-व्यवस्था से समाज में मुख्यतः दो वर्ग विकसित होते हैं- पूंजीपति वर्ग का उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रहता है तथा ये संपत्ति माने जाती हैं, इसके विपरीत सर्वहारा वर्ग का उत्पादन के साधनों पर कोई अधिकार नहीं होता। ये केवल अपने श्रम को बेचकर अपनी जीविका चलाते हैं। इससे समाज में स्तरीकरण का जो स्वरूप विकसित होता है उसमें आर्थिक असमानता, शोषण व अन्याय का जन्म होता है, पूंजीपति सर्वहारा वर्ग का शोषण करता है जिससे इन दोनों के बीच संघर्ष विकसित होता है। मार्क्स ने इसे वर्ग संघर्ष कहा है। मार्क्स का विश्वास है कि इस संघर्ष में सर्वहारा वर्ग की विजय तथा अंत में वर्ग विहीन समाज की स्थापना होगी जिसके कारण सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार मार्क्स के स्तरीकरण के सिद्धांत में मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैं:-

- सामाजिक स्तरीकरण का मूल कारण उत्पादन की प्रक्रिया है जिससे समाज में वर्ग-व्यवस्था विकसित होती है।
- समाज की प्रारंभिक अवस्था में वर्ग-विभेद नहीं था। वर्ग-प्रणाली धीरे-धीरे बाद में विकसित हुई है जो पूंजीवादी युग में पूर्णरूपेण परिपक्व हो जाती है तथा वर्ग-संघर्ष का जन्म उग्ररूप में विकसित हो जाता हैं । मार्क्स ने समाज की भौतिकवादी व्याख्या करते हुए समाज के इतिहास को निम्न भागों में बांटा है।

i) आदिम साम्यवादी युगः- स्तरीकरण व वर्ग-विभेद का अभाव था।

ii) दासता का युग - सामाजिक स्तरीकरण में दो वर्ग विकसित हुए सामंत वर्ग तथा कृषक या दास वर्ग।

iii) कृषि युग ;सामंतवादी युग- समाज दो वर्गों के रूप में विकसित हुआ जमींदार तथा भूमिहीन।

iv) पूंजीवादी युगः- सामाजिक स्तरीकरण में दो वर्ग पूंजीवादी वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग विकसित हुए।

v) साम्यवादी युगः- सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित होगा तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होगी जिसमें राज्य की संस्था समाप्त हो जाएगी।

i) सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप समाज की उत्पादन विधि की अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के साथ बदलता रहता है।

14.5.2 प्रकार्यवादी स्तरीकरण का सिद्धांत

किंग्सले डेविस एवं बिलबर्ट मूर का सिद्धांत -

सामाजिक स्तरीकरण से संबंधित प्रकार्यवादी सिद्धांत का वर्णन किंग्सले डेविस तथा बिलबर्ट मूर ने अपने लेख (Principles of Stratification) में किया है। वह अपने लेख को इस मान्यता से शुरू करते हैं कि कोई भी समाज वर्ग-विहीन नहीं है, सभी समाजों में संस्तरण पाया जाता है। समाजों में स्तरीकरण इसलिए पाया जाता है कि प्रत्येक समाज यह महसूस करता है कि सामाजिक संरचना में प्रत्येक व्यक्ति को कोई न कोई स्थान निश्चित होना चाहिए तथा विभिन्न स्थानों को प्राप्त करने की उन्हें प्रेरणा दी जानी चाहिए। इस प्रकार सामाजिक विषमता समाज में अचेतन रूप से विकसित होती है। इसके द्वारा समाज ऐसी व्यवस्था करता है कि सबसे महत्वपूर्ण पदों पर सबसे योग्य व्यक्ति पहुंचे।

डेविस का कहना है कि समाज के विभिन्न पदों के लिए विभिन्न बुद्धि एवं योग्यता की आवश्यकता पड़ती है। जो पद सामाजिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, ऐसे पदों के लिए अधिक पुरस्कार की आशा की जाती है। महत्वपूर्ण कार्यों को करने के लिए विशेष प्रतिभा एवं प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। कुछ प्रशिक्षण कठिन एवं खर्चीले होते हैं। अतः उन्हें सभी व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए इन पदों के लिए समाज अधिक सुविधा एवं पुरस्कार की व्यवस्था करता है। उदाहरण के लिए समाज में डॉक्टर, इंजीनियर, आई.ए.एस. के पद आदि महंगे और अधिक परिश्रम के बाद प्राप्त होते हैं बजाय एक अध्यापक या चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी के पद के। अतः इन पदों के लिए समाज द्वारा अधिक वेतन एवं सुविधाओं की व्यवस्था की गयी है।

डेविस के अनुसार समाज तीन प्रकार का पुरस्कार देता हैः-

प्रथम, समाज वस्तुएं देता है जो व्यक्तियों के जीवन धारण एवं आराम के लिए आवश्यक होती हैं अर्थात् आर्थिक प्रोत्साहन।

द्वितीय, समाज मन बहलाव तथा सौंदर्य तथा बोधात्मक प्रकृति की वस्तुएं प्रदान करता है।

तृतीय, समाज आत्मसम्मान एवं अहं की तुष्टि करने वाली वस्तुएं प्रदान करता है अर्थात् प्रतीकात्मक। उदाहरण के लिए, वीरता प्रदर्शित करने वाले सैनिकों को 'परमवीर चक्र' प्रदान किए जाते हैं। राष्ट्रपति द्वारा दी जाने वाली 'भरत रत्न', 'पद्म विभूषण' तथा 'पद्मश्री' आदि उपाध्यिाँ सम्मानजनक पुरस्कार हैं।

इस प्रकार जब समाज में कुछ लोगों को अधिक पुरस्कार एवं सुविधाएं प्रदान की जाती हैं और कुछ को कम तो समाज में स्वतः ही स्तरीकरण पैदा हो जाता है। डेविस का मत है कि यह सिद्धांत बंद तथा खुला दोनों पर लागू होता है क्योंकि स्तरीकरण में व्यक्तियों का नहीं वरन् पदों का क्रम विन्यास होता है।

डेविस व मूर के प्रकार्यात्मक सिद्धांत की आलोचना मेलविन ट्यूमिन द्वारा की गई है। ट्यूमिन का कहना है कि यह कैसे कहा जा सकता है कि समाज में कौन-सा कार्य अधिक महत्वपूर्ण है और कौन-सा कम महत्वपूर्ण है। समाज में बहुत सी ऐसी प्रस्थिति होती हैं, जिससे आम लोगों का कोई मतलब नहीं होता तो उनके लिए उस प्रस्थिति का कोई महत्व नहीं होता। डेविस व मूर शायद यह भूल गए कि प्रत्येक प्रस्थिति के साथ शक्ति की मात्रा जुड़ी होती है। जिस प्रस्थिति के साथ जितनी शक्ति की मात्रा होगी वह प्रस्थिति उतनी ही महत्वपूर्ण होगी। कलेक्टर की प्रस्थिति समाज में अधिक महत्वपूर्ण इसलिए है कि उसे किसी भी कर्मचारी को दंडित करने की शक्ति प्राप्त है।

14.5.3 ऐतिहासिक स्तरीकरण का सिद्धांत

मैक्सवेबर का सिद्धांत - वेबर मार्क्स की तरह वर्ग को स्तरीकरण के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं। वेबर ने कहा कि आर्थिक कारक के साथ शक्ति और सम्मान का भी महत्व होता है। इनके अनुसार संपत्ति से वर्ग भेद उत्पन्न होता है। शक्ति के अधिकारों से राजनीतिक दल बनते हैं और सम्मान में अंतर होने से प्रस्थिति समूह या स्तर बनते हैं। वेबर ने भी प्रस्थिति समूह व दल के आधार पर स्तरीकरण की व्याख्या की है। जिस वर्ग के लोगों के पास संपत्ति होती है, वे एक समुचित सम्मान के साथ एक प्रस्थिति समूह के सदस्य हो जाते है और कालांतर में उनको शक्ति मिल जाती है ।

वेबलन का सिद्धांत - अपने सिद्धांत का वर्णन (Theory of Leisure Class) में किया जिसे विलासी वर्ग का सिद्धांत कहते है। वेबलन समाज को दो वर्गों में विभक्त करते हैं प्रथम वह जो अनुत्पादक होते हुए भी अपनी आर्थिक शक्ति के कारण विलास की वस्तुओं का उपभोग करता है, एवं द्वितीय वह जो उत्पादन कार्य में लगा होने पर भी अपनी क्षीण आर्थिक स्थिति के कारण इच्छानुसार उपभोग करने में असमर्थ होता है। वेब्लन का मत है कि उपभोग के संबंध में यह भिन्नता आदिम काल से चली आई है, किंतु उस समय परंपराएं तय करती थीं कि कौन किस वस्तु का उपभोग करेगा। इस प्रकार समाज में ऊंचे एवं नीचे दो वर्ग बन जाते हैं जो स्तरीकरण पैदा करते हैं।

14.6 सारांश

इस इकाई में आपने सामाजिक स्तरण के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त की। सामाजिक स्तरीकरण के मूल तत्व के बारे में, सामाजिक विभेदीकरण से किस तरह असमानता के रूप में बदलकर सामाजिक स्तरण में बदलता है । सामाजिक स्तरण का समाज के लिए क्या महत्व है के बारे में जानकारी प्राप्त हुई। सामाजिक स्तरण के स्वरूपों के बारे मे जैसे दास प्रथा, जागीर प्रथा, जाति प्रथा, वर्ग व्यवस्था आदि के बारे में कि ये कैसे सामाजिक स्तरण का रूप धारण कर लेता है, तथा सामाजिक स्तरण के विभिन्न सिद्धांतों जैसेः- प्रकार्यवादी सिद्धांत, संघर्ष वादी सिद्धांत, ऐतिहासिक सिद्धांत आदि की विस्तार से जानकारी प्राप्त हुई है।

14.7 पारिभाषिक शब्दावली

1.	स्तरण	-	परत
2.	सामाजिक विभेदीकरण	-	भिन्नता
3.	विभक्तिकरण	-	बंटवारा
4.	प्रस्थिति	-	पदस्थिति
5.	विलासी वर्ग	-	जो विलास की वस्तुओं का उपभोग करता है।
6.	अभिजात वर्ग	-	उच्च पदों पर आसीन परिस्थितियों का समूह
7.	बुर्जुवा	-	पूंजीपति
8.	सर्वहारा	-	मजदूर
9.	सोपान क्रम	-	उच्चता से निम्नता की तरफ

14.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गिड़िस, एथनी, समाजशास्त्र, कैंब्रिज पोलिटी प्रेस 1998.।
2. होरोलंबस, माइकल, समाजशास्त्र: थीम्स एंड पर्सपेक्टिव, दिल्ली, ऑक्सफोर्ड, प्रेस, 1989.।
3. डेविस, के एंड मूर, विल्बर्त ई, सम प्रिंसिपल्स आफ स्ट्रेटीफिकेशन, 1966.।
4. घुर्ये , जी. एस, कास्ट एंड क्लास इन इंडिया, मुंबई पापुलर बुक डिपो, 1950.।

5. कर्बे, इरावर्ती, हिंदु समाज: एन इंटरप्रेटेशन, पुने, डेक्कन कॉलिज, 1968.।

6. अग्रवाल, जी .के ., एस बी पी डी पब्लिकेशंस, आगरा 2009

14.9 निबंधात्मक प्रश्न

7. सामाजिक स्तरण के सिद्धांतों को समझाइए ?

8. सामाजिक स्तरण का प्रकार्यवादी सिद्धांत क्या है ?

9. सामाजिक स्तरण का संघर्षवादी सिद्धांत क्या है ?

10. सामाजिक स्तरण के ऐतिहासिक सिद्धांत से आप क्या समझते हो ?